निवेदन।

वाचक-वृन्द ! आज मुझे अत्यन्त हर्ष के साथ कहना पड़ता है कि यह मेरा द्वितीय परिश्रम, उस जगदाधार जगदीश्वर के कृपा-कटाक्ष से, पूर्ण हुआ। यद्यपि मैं न तो कोई प्रसिद्ध लेखक हूं और न कोई अद्वितीय विद्वान् हूं कि अपनी लेख-प्रणाली को श्रेष्ठ कहलाने का भागी बनूं; परन्तु तो भी आत्मश्लाघा के दोष को बचा कर, यदि मैं अपने साहस उत्तेजनार्थ यत्किञ्चित् प्रशंसा की भिक्षा चाहूं, तो क्या दयार्द्रहृदय पाठक-वृन्द न देंगे ?

मुझे इसके साथ ही अपने उस कृपालु मित्र का भी यथा-योग्य धन्यवाद करना चाहिये कि जिसने इस घटना को मेरे सन्मुख वर्णन किया। यदि न्याय-दृष्टि से देखा जाय तो इस कार्य्य में यश के भागी हमारे वही कृपालु मित्र हैं। क्योंकि उपन्यास में मुख्य घटना की रोचकता और उत्तम कल्पना का होना कहा जाता है—सो यदि वे मेरे सन्मुख इस रोचक घटना को न कहते तो क्या फिर भी मैं इस पुस्तक के लिखने में फलीभूत होता ?

अब रही बात यह कि इसकी घटना कल्पित है अथवा सत्य, सो मैं नहीं कह सकता। मैंने तो केवल—जिस प्रकार अपने मित्र के मुख से सुना—उसे ही ध्यान में रख कर उपन्यास के रूप में बाँध दिया, हां कहीं कहीं जहां घटना की

मनोहरता को जाते देखा है उस स्थान पर अवश्य अपनी तरफ़ से काट छाँट की है। शेष सब वे ही घटनाएं हैं जिनको मैंने अपने मित्र से सुना है।

इस पुस्तक का भाषा-सम्बन्धी दोष मुझ पर आ सकता है, कि मैंने क्यों इस पुस्तक को उर्दू-भाषा में लिखा। परन्तु मन की रुचि भी कोई चीज़ होती है। मेरे चित्त को इस पुस्तक़ का लिखा जाना इसी भाषा में अच्छा मालूम हुआ, इस कारण इसकी भाषा ऐसी ही रहने दी। अस्तु, यदि यह भाषा पढ़ने-वालों को अरुचिकर प्रतीत हो तो क्षमा करें।

अब अन्त में मेरा यही निवेदन है कि 'भूल मनुष्यमात्र का स्वभाव है। मैं भी मनुष्य ही हूं। मुझ से भी भूल हो जाय यह कोई असम्भव बात नहीं। इस कारण उदारहृदय पाठक वृन्दों से प्रार्थना है कि जहां कहीं भूल हो उसे सुधार कर मुझे क्षमा-प्रदान करेंगे। दूसरे, इसकी घटना स्वयम् इसकी नायका ही के मुख से कहलाना उत्तम समझा, इस से ऐसी लेख-प्रणाली का अनुकरण किया।

विनीत—

लेखक।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

द्वितीयावृत्ति-निवेदन ।

पूरे दश वर्ष हुए, जब मैंने यह उपन्यास लिखा था। उस समय यह किसे ज्ञात था कि इस ऐसे उपन्यास का भी कभी द्वितीय संस्करण होगा। परन्तु उस परमात्मा की कृपा से यह ऐसा क्षुद्र उपन्यास, फिर एक नई सजधज के साथ, कृपालु वाचक वृन्दों के कर-कमलों में पहुंचता है। मुझे दृढ़ आशा है कि जिस प्रकार आप लोगों ने प्रथम संस्करण को अपनी असीम अनुकम्पा (दया) दिखा कर अपनाया था, उसी प्रकार इस द्वितीय संस्करण को भी अपनी कृपादृष्टि से वञ्चित न करेंगे।

इस संस्करण में वे सब त्रुटियां निकाल दी हैं, जो नितान्त असंगत वा अस्वाभाविक थीं। फिर भी कई बातें ऐसी हैं जिन्हें अब भी बहुत से महानुभाव भूल समझ सकते हैं। परन्तु रुचि वैचित्र्य के कारण जो बात एक स्थान पर भूल अथवा अस्वाभाविक समझी जाती है; वही दूसरे स्थान पर शुद्ध और स्वाभाविक मानी जाती है। इस कारण ऐसी त्रुटियों का, ऐसी अस्वाभाविकता का लेखक पर कहांतक दोषारोपण किया जासकता है? यह एक विचारणीय विषय है।

उपन्यास में चरित्र-चित्रण एक प्रधान विषय है। जिस लेखक के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता हो, जिसने मानव

हृदय के भावों का सूक्ष्म दृष्टिद्वारा मनन किया हो, जिसे मनुष्य-चरित्र का पूर्ण अनुभव हो और जो अपनी असीम कल्पनाद्वारा लोक-रञ्जन के साथ साथ लोकशिक्षा को भी हाथ से न जाने दे; उसी को मेरी समझ में उत्तम उपन्यासकार कहना चाहिये।

कल्पना का राज्य असीम है, अपरिमित है। मनुष्य कल्पना द्वारा बहुत कुछ करसकता है। मनगढ़ंत बातें बहुत कुछ गढ़ी जा सकती हैं। परन्तु जो चरित्र उत्तम कल्पना शक्तिद्वारा स्वाभाविक सरसता लिये हुए, चित्रित किया जाता है, वह निःसन्देह हृदयग्राही और लोकोत्तरानन्ददायक होता है। स्वाभाविक चरित्र-चित्रण में सिद्धहस्त लेखक स्वयम् सर्वज्ञ होकर मित्र की तरह—आत्मा की तरह—शिक्षा देने का प्रयत्न करता है। अव्यक्तरूप से अपने सुन्दर भाव-चित्रण द्वारा ही पाठकों के हृदय पर प्रकाश डालता है। फिर वह लम्बे लम्बे शिक्षा के लेक्चर झाड़कर अपनी कृति को धर्मग्रन्थ बनाने का उद्योग नहीं करता। जिसकी रचना में आदर्शचरित्र के साथ हार्दिक उत्थान पतन नहीं, मानव हृदय के सूक्ष्म और क्षुद्र भावों का प्राकृतिक सन्निवेश नहीं; केवल शब्दाडम्बर और निकृष्ट कल्पना ही है। तो उसकी रचना विशेष प्रभावोत्पादक नहीं होसकती।

अस्तु, यह जो कुछ ऊपर कहा गया है, इसके माने यह नहीं हैं कि ये सब बातें इस उपन्यास में आगई हैं; या कि मैं इन सब लक्षणों से युक्त लेखक हूं, कभी नहीं। दश वर्ष पहिले जिन भावों को जिस प्रकार और जैसी भाषा में प्रकट किये थे वे कदाचित् इस वर्तमान समय में रूखे प्रतीत हों, तो आश्चर्य नहीं। जो हवा दश वर्ष पहिले बह रही थी, उसका रुख हिंदी संसार में अब और तरफ़ होगया है। इस

कारण यह जो कुछ, उपन्यास और उपन्यासकार के विषय में कहा गया है, वह केवल मेरा मन्तव्यमात्र ही है। और कुछ नहीं।

यहां पर मैं यह कहे बिना भी नहीं रहसकता कि बहुत से बुद्धिमानों ने इस उपन्यास को, या इसकी घटनाओं को सत्य सिद्ध करने का वृथा ही उद्योग किया है। इसमें के कथित पात्रों के चरित्रों को काल्पनिक न मानकर लेखक के सर पर व्यर्थ दोषारोपण करते हुए, उनकी आत्माओं को ज़रा भी दुःख नहीं हुआ है। परन्तु थोड़ीसी विचारशक्ति को काम में लाने से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि जिन जिन पात्रों को लेखक ने पाठकों के सन्मुख दिखलाये हैं, वे सब इसी संसार के हैं। उनके चरित्र, उनके कार्य, उनके हृदयों के भले या बुरे भाव, उसी प्रकार चित्रित होने चाहिये, जिस प्रकार कि सांसारिक मनुष्यों के होते हैं। ऐसे उपन्यासों में और तरह के चरित्र लेखक लावही कहां से सकता है। लेखक स्वयम् सांसारिक व्यक्ति है, उसके काल्पनिक पात्र सांसारिक हैं, उसका उपन्यास संसार के हित के लिये है; फिर ऐसे पात्रों का चरित्र दैवी या दानवी चरित्र के अनुसार चित्रित करना सांसारिक लेखक की शक्ति के बाहर की बात है। इस कारण यह सहज ही मानने में आसकता है कि ऐसे चरित्र यदि किसी व्यक्ति के चरित्रों से, किसी अंश में, थोड़े बहुत मिलान आजांय तो उसका दोष लेखक के सिर पर डालना यह कहां का न्याय है ?

प्रायः ऐसा देखा गया है कि बहुत से काल्पनिक नाटक उपन्यासों के पात्रों के चरित्र, बहुत से पाठकों के चरित्रों से

किसी न किसी अंश में मिल जाते हैं। उस समय जो प्रभाव, जो असर, उन पाठकों के हृदयों पर होता है उसका वर्णन करना सहज नहीं है। ऐसा प्रभाव चिरस्थायी और वड़ाही प्रभावोत्पादक होता है। तो क्या इस चरित्र सादृश्य से वे पाठकगण उन चरित्रों को अपने चरित्र मान बैठते हैं? कभी नहीं। जिन्हें ज़रा भी नाटक उपन्यास पढ़ने का शौक़ है, या यों कहना चाहिये कि जिन्हें ज़रा भी इस वात का शऊर है, तमीज़ है, वह सहज ही समझ सकते हैं कि इस चरित्र-सादृश्य के कारण लेखक पर किसी प्रकार का भी दोष नहीं आ सकता।

अस्तु, अत्र विशेष न वढ़ाकर लेखक यह प्रार्थना करता है कि, न तो यह उपन्यास किसी व्यक्तिविशेष को अकारण दुःख पहुंचाने के लिये लिखा गया है, और न लेखक का कभी ऐसा उद्देश रहा है। लेखक इतने कलुषित हृदय का नहीं है कि व्यर्थ किसी की आत्मा को दुःख पहुंचाकर स्वयम् हर्षित हो, परन्तु जिनकी प्रकृति ही इस प्रकार की हो, जिनको कुदरत ने दिल ही इस क़िस्म के दिये हों कि जिन्हें दूसरे की कृति में व्यर्थ दोषोद्घाटन करते हुए संकोच नहीं होता, तो इसके उत्तर के लिये मुझअल्पबुद्धि के पास कोई सामान नहीं है। अहा! किसी ने ठीक कहा है:- "दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निना। अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दा प्रकुर्वते॥" अथवा यों समझना चाहिये कि:- "यो यस्य नो वेत्ति गुणप्रवाहं स तस्यनिंदां सततं करोति। "यथा किराती करिकुम्भजातं मुक्ता परित्यज्य विभर्ति गुंजाम्॥"

चिरपरिचित—

माधव केसोट।

व

प्रकाशक—

पं० काशीनाथ।

आत्म कथन।

आज हम अपने श्रीगुरुदेव की कृपा से "अद्भुत रहस्य" नामक उपन्यास का द्वितीय संस्करण बड़ी सजधज के साथ कृपालु पाठकवृन्दों के समक्ष उपस्थित करते हैं। यद्यपि प्रथम प्रकाशन में इसके चार भाग ही प्रकाशित हुए थे, और लेखक महोदय ने "कभी फिर भी मिलेंगे" ऐसा वचन देकर इसे दुःखान्तही छोड़ दिया था; परन्तु मेरी और मेरे कतिपय मित्र-गणों की यह प्रबल इच्छा थी कि इस उपन्यास की समाप्ति इसमें कथित नायिका की ऐसी अनौचित्य मृत्यु पर न होनी चाहिये, यह अद्भुत उपन्यास येनकेन प्रकारेण अवश्य सुखान्त होना चाहिये, इसपर मुझे लेखक महोदय से मिलने की आवश्यकता हुई।

बड़ी कठिनता से लेखक महाशय का सही पता ज्ञात हुआ; क्योंकि इस उपन्यास पर लेखक का नाम "नक़ाबपोश" होने से लेखक को ढूंढने में मुझे बड़ी कठिनता पड़ गई थी अस्तु जब लेखक महोदय से साक्षात्कार हुआ तो मैंने इस उपन्यास के पुनः छापने का अधिकार प्रदान करने के लिये उनसे निवेदन किया और साथ ही इसको सुखान्त करने के लिये एक या दो भाग और लिखने की भी प्रार्थना की। उन्होंने सहर्ष मुझे न केवल छापने ही का अधिकार दिया प्रत्युत इसे अन्य भाषा में अनुवाद करने तक का भी अधिकार दे दिया।

अतः मैं लेखक महोदय का कहां तक कृतज्ञ हूं, यह लेखनी द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता। मेरी पहिले की लेखक महोदय के साथ कुछ भी जान पहिचान नहीं थी यों सहसा दस मिनिट की बातचीत ही में अपनी कृति का दूसरे को पूर्ण अधिकार दे देना कुछ कम बात नहीं है, इस बात से लेखक महोदय के उदार हृदय का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, अस्तु यह सब कुछ हो गया! पूर्ण अधिकार भी मिल गया; परन्तु आगे इसे सुखान्त करने के लिये उन्होंने समयाभाव से किंवा रुचि परिवर्तन से बिल्कुल इन्कार किया और मज़ाक़ में

मुझे ही इसका कर्ता धर्ता कहकर इसे सुखांत करने के लिये आगे लिखने की सम्मति दी, यद्यपि इस पात्रता के लिये मैं उपयुक्त पात्र नहीं था तो भी उनके व अन्य कतिपय मित्रवर्गों के उत्साहित करने से एक हितैषी मित्र की सहायता पाकर इस उपन्यास के आगे के दो भाग लिखडाले। जिसके लिये मैं उक्त मित्र महोदय का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

आगे यह भाग कैसे लिखे गये इस विषय में मुझे कहने का कुछ भी अधिकार नहीं है, यह केवल आपकी कृपा व रुचि पर ही अवलंबित है, मुझ अनाधिकारी के लेख को यदि आप लोग प्रोत्साहित की दृष्टि से देखकर मुझे उत्साह प्रदान करेंगे तो मैं अपने को बड़ा धन्य समझूंगा।

अन्त में निवेदन है कि इस संस्करण में मैंने इस पुस्तक की छपाई सफाई की तरफ पूर्ण ध्यान दिया है, बहुतसा व्यय करके यथामति इसमें नये २ फोटू (चित्र) भी दिये हैं, जो इसके प्रथम संस्करण से कहीं विशेष उत्तम हैं, इससे मुझे पूर्ण आशा है कि यह संस्करण पाठकों को अवश्य मनोरंजन करेगा।

आगे मैं उस जगदाधार जगदीश्वर से यह ही प्रार्थना करता हूं कि इस उपन्यास के लेखक महोदय सदा प्रसन्न रहैं और जिस प्रकार इस उपन्यास के पूर्ण अधिकार देने में उन्होंने अपने उदार हृदय की असीम दया दिखलाई है उसी प्रकार आगे भी उनकी कृपादृष्टि मेरे पर सदैव बनी रहै। मेरा तो लेखक महोदय से यही कहना है कि "जे गरीब को आदरें ते रहीम बड़ लोग।" कहा सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग ॥१॥"

पाठक महोदयों से मेरी प्रार्थना है, इसमें जहां कहीं भूल पावेंउसकी सूचना मुझे अवश्य प्रदान करें ताकि आगे के लिये मैं होशियार हो जाऊं।

मथुरा: ता२० सितम्बर सन १९१७.

विनीत:—
पंडित काशीनाथ.
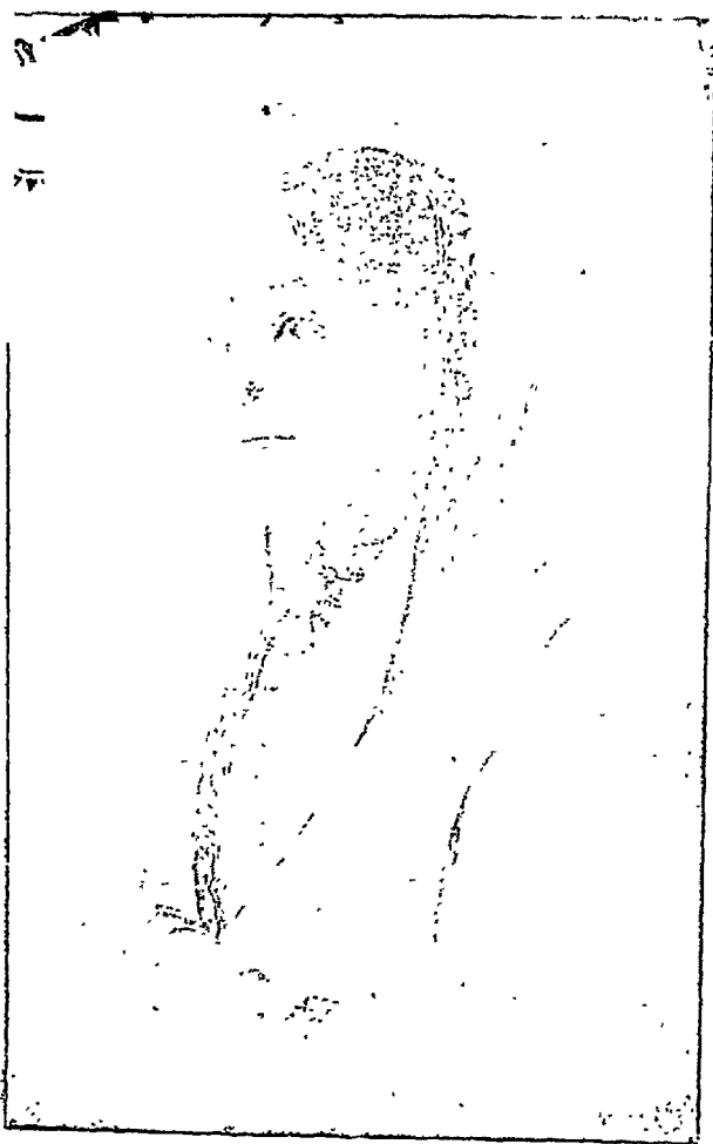
अहः हः हः अब मैंने जाना कि मैं भी खूबसूरत हूं, मैं भी इस लायक हूं,
कि बेचारे भोले भालों को फँसा सकूं।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अद्भुत रहस्य

वा

सचित्र विचित्र वाराङ्गना ।

पहिला हिस्सा ।

पहिला बयान ।

(बचपन)

" ज़बाँ सख़ुन के लिए है, सख़ुन ज़बाँ के लिए ।
यह जिन्स तोहफ़ए-नादिर है क़द्र-दाँ के लिए ॥" (ग० सं०)

मैं जब बिलकुल बच्ची थी, यह झगड़ा जो मैं आगे लिखती हूं, कुछ भी नहीं जानती थी। अगर्चे मेरी पैदाइश एक ऐसे ही घर में हुई थी, लेकिन बचपन में मैं यह नहीं जानती थी, कि इस घर की लड़कियों को ऐसा करना पड़ता है। मैं ख़ूबसूरती का अन्दाज़ा उस वक़्त कुछ भी नहीं कर सकती थी। योंही वह वक़्त, खेल-कूद में, हवा की तरह निकल गया और अब यह वक़्त आया कि मैं भी अम्मां की देखा देख, आईने को दिन में चार चार मरतबा सामने रखकर सूरत बनाने लगी। अह:ह:ह: ! अब मैंने जाना, कि मैं भी ख़ूबसूरत हूं; मैं भी इस लायक़ हूं कि बेचारे भोले भालों को फँसा सकूं। मेरे दो छोटी बहिनें और थीं, लेकिन वे अभी तक निरी बच्ची ही थीं; इसलिए अम्मां का प्यार मुझ

पर ज़्यादः बढ़ गया था । अब उसका—मेरी खूबसूरती में किसी तरह का फ़र्क़ न आने पावे—यही ध्यान हर वक़्त रहता था । मेरी तालीम होने लगी । लिखने पढ़ने की नहीं, बल्कि दूसरे का दिल कैसे अपनी तरफ़ खैंचा जाता है, इसकी । इस तालीम का उस्ताद कौन था ? कोई नहीं, मेरी अम्मां ही थी । वह रात दिन, दिलोजान से मुझे वे सब बातें सिखलाने लगी, जिन पर कि कच्चे दिल के इन्सान जल्द ही लट्टू हो जाते हैं । ख़ैर, थोड़े ही दिनों में मैं—ज़ेहन तेज़ होने के सबब—अपने ख़ान्दानी फ़न् में ताक़ हो गई । उठना, बैठना, बोलना-चालना, हंसना, आंखें लड़ाना, नाचना, गाना, इशारे मारना वग़ैरह वग़ैरह तमाम फ़न् मैंने बड़ी सहूलियत के साथ हासिल कर लिए । लेकिन अब अम्माँ उदास रहती थी । मुझे अपने फ़न् में होशियार देखकर आज कल उसे खुश होना चाहिए था । मगर वह तो उलटी आज कल उदास रहती थी । इसलिए एक रोज़ मैंने उस से कहा—"अम्मां ! तुम आज कल उदास क्यों रहती हो ?" उसने अफ़सोस करते हुए कहा—"बेटी क्या कहूं ? मुझे फ़िक्र है, कि तुम जवान हुई लेकिन अभी तक कोई भी तुम्हें पसन्द नहीं करता, इस का क्या सबब है ?" यह जवाब सुनकर मैं समझ गई कि अम्मां मुझ से उदास नहीं बल्कि तक़दीर से उदास है । ख़ैर, थोड़े दिन योंहीं निकल गये, लेकिन अम्मां की उदासी दूर न हुई । मैं बराबर अम्मां के साथ नाच मुजरों में जाया करती थी लेकिन सब बेफ़ायदा । इस वक़्त में मेरी चढ़ती जवानी थी, उम्दा खाने को मिलता था, अच्छे कपड़े पहिनने को मिलते थे और इन सब पर तुर्रा यह कि ऐसे घर की पैदाइश थी, फिर भला मैं, इस चढ़ती जवानी के उठान और ऐसे आराम को योंहीं कैसे बरदाश्त कर सकती थी ।

फ़िक्र था तो अम्मां को था, मुझे क्या था। उस वक़्त में हमारे यहां एक नौजवान बहलवान रहता था। मेरे उसके कभी कभी योंही दिल्लगी हुआ करती थी। बस, अब आप समझ जाइए, ज़्याद: कहने की ज़रूरत नहीं, बात यह है कि मैंने अम्मां की इतने दिनों की मेहनत और निगहबानी को योंही मुफ़्त उसके हाथ गवां दी। अब अगर देखा जाय तो मैं नथ पहनने के क़ाबिल न थी, लेकिन ऐसा तो हो नहीं सकता था। होते होते यह बात अम्मां ने भी जान ली और मारे गुस्से के आग बगूला होकर, उस बेचारे को तो निकाल दिया और मुझे इतना ठोका, इतना ठोका कि मैं पन्द्रह रोज तक पड़ी पड़ी सेंकती रही। हक़ीक़त में देखा जाय तो मेरा कुसूर ऐसा ही था, लेकिन अफ़सोस! मैं तो इस जवानी के उठान के सामने लाचार थी।

जब मुझे पूरे तौर पर सेहत हो गई तो अम्मां भी राजी हो गई और कहने लगी—"बेटी! हुआ सो हुआ, मगर ख़बरदार यह राज़ अब किसी पर जाहिर न होने पावे, नहीं तो अपना बड़ा भारी हर्ज होगा।" मैंने जवाब दिया—"अम्मां! तुम डरो मत, ऐसा कभी नहीं होगा।" इसी तरह से हम ने एक महीना और गुज़ार दिया, इतने ही में हमारी ख़ुश क़िस्मती से एक मोटा उल्लू आ फँसा। मैंने उसे—जो कुछ मेरी अम्मां ने मुझे बनावटी फ़िक़्रे सिखाये थे—उनमें ख़ूब ही फांसा। वह अब न सम्हल सका और मेरी चढ़ती जवानी की आग में पड़कर घी की तरह पिघल गया। अम्मां भी अब राजी हो गई और अपनी इतने दिन की मेहनत का टेक्स काफ़ी वसूल कर केमुझे उसके हवाले किया।

दूसरा बयान।

(रोबनलाल और फ़िटरू)

"हिज्रे जानाँ में मरे जाते हैं हम। दिल लगाने की सज़ा पाते हैं हम॥"

(गु० हं०)

अब इस जगह पर, अगर मैं यह लिखने बैठूं कि, मेरी नथ उतरने की ख़ुशी में क्या क्या हुआ, कितने जलसे हुए, तो बहुत तूल हो जायगा। हाँ, दो एक मतलब की बातें यहां लिखकर अपनी "सवाने-उम्री" को आगे बढ़ाती हूं।

बात यह है कि ज़ाहिरा नथ तो रोबनलाल ही ने उतारी थी, लेकिन मैं तो अब सच कहने और यह दिखलाने के लिए आमादा हूं कि हमारा पेशा कैसा है और किस तरह से हम लोग इस पेशे से कमाती हैं, इसलिए उन सब बातों को मैं खोल कर ही लिखूंगी, जिन को हम लोग छुपाना अपना फ़र्ज़ समझती हैं।

हां, ज़ाहिरा नाम तो रोबनलाल ही का था, मगर दर-हक़ीक़त वह शख़्स कोई दूसरा ही था। वह कौन था? सो तो आगे किसी बयान में कहा जायगा, इस जगह पर सिर्फ़ इतना ही लिख देना बस होगा कि इस की तरफ़ से सख़्त ताकीद होने के सबब मेरी अम्मां ने यह बात पोशीदा रक्खी और नथ एक दफ़ा उतारी जाकर फिर मुझे वापस ही पहनादी गई। न इस नथ उतरने की ख़ुशी में जलसा किया गया, न कोई ख़ुशी मनाई गई, बल्कि जो कुछ होना था सो चुप चाप घर ही में कर करा के झगड़ा तै किया।

उस शख़्स से, कि जिस ने अव्वल ही अव्वल मुझे सरफ़राज़ किया था, इस बात के पांच सौ रुपये लिए गये थे। और चूंकि वह दौलतवाला था इसलिए इतनी गहरी रक़म देकर भी अपना नाम नामवरी के वास्ते ज़ाहिर करना नहीं चाहता था। अब इस से हमें फ़ायदा था या नुक़सान, सो मेरी समझ में कहने की ज़रूरत नहीं; क्योंकि आप ख़ुद सोच सकते हैं, कि ऐसी बातों का होना हम लोग अपनी ख़ुश क़िस्मती का बाइस समझती हैं।

आज मुझे सरफ़राज़ हुए, या यों कहिये कि मिस्टर रोवन-लाल की नौकर हुए, आठवां रोज़ था। वह बराबर नौबजे रात को मेरे मकान पर आता था और बारह एक, कभी कभी तीन चार बजे तक मेरे मकान पर ठहरता था। यह वतीरा उसका क्यों था? वह मुझे अपने मकान पर क्यों नहीं बुलाता था? इन सब का जवाब यही होगा कि अपने वालिद के डर से वह ऐसा करता था।

रात के नौ बजे थे, जब मैं अपने नये चाहनेवाले की बाट जोहने * लगी। लौंडी ने सब सामान कमरे में पहले से तय्यार कर रक्खा था, इसलिए मैं एक कुरसी पर बैठकर ग़ज़लों की किताब लेके गुनगुनाने लगी।

साढ़े नौ बज गये, लेकिन अभी तक वह न आया, इस से मुझे ताज्जुब हुआ। क्योंकि और दिन वह ठीक नौ बजे आ-जाया करता था। इस वक़्त में मैं किताब पढ़ती पढ़ती भी उकता गई, इसलिए उस को अलग रख कर पलंग पर जा लेटी। ठीक दस बजे, जब कि मुझे कुछ झपकी सी आने लगी थी,

* राह देखने।

ज़ीने में पैरों की आहट हुई । मेरी झपकी टूट गई और ज्योंहीं मैंने कमरे के दरवाज़े की तरफ़ निगाह की अपने आशिक़ को अन्दर आते देखा । अगर्चे मैं इस वक़्त जाग रही थी लेकिन फिर भी मैंने अपने को इसी हालत में रक्खा । मुझे यह देख कर बहुत ताज्जुब हुआ कि मेरे आशिक़ के साथ आज एक गोरासा डाढ़ीवाला मुसलमान था । मुझे सोता हुआ समझ कर मेरे आशिक़ ने कहा—

"बि सूरज ! ओ बि सूरज !! क्या सो गई ? वल्लाह यह भी कोई सोना है ।" इतना कह कर उस ने, जो दुलाई मैंने ओढ़ रक्खी थी, खैंच कर अलग फेंक दी । अब इस वक़्त मैंने अपना सोता रहना अच्छा न समझा, इसलिए बनावटी गुस्सा दिखलाती हुई पलंग पर से उठकर यों कहने लगी—"वाह ? यह क्या वहशीपन ? मेरे तो पसीने आ रहे थे और तुमने दुलाई खैंच कर फेंक दी, कहीं मेरे ज़ुकाम हो जाय तब !"

रोशनलाल—"अरे नज़ाकत ! बि साहिबा के ज़ुकाम हो जाता, हज़रत, जो इतने नखरे न करो तो न बने ! क्यों मियां फ़िटरू ! ठीक है न ।" "मियां फ़िटरू"-यह नाम उस मुसल्मान का सुनकर तो मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी । क्योंकि यह नाम ही ऐसा था । मैंने जो बनावटी गुस्सा कर रक्खा था, इस नाम के सुनते ही न मालूम किधर छू मंतर हुआ । मगर यह सब मियां फ़िटरू कब बरदाश्त करसकते थे । मेरा हँसना था कि आप तो बेतरह बिगड़ खड़े हुए और कहने लगे ।

मियां फ़िटरू—"देखा आपने बि* स्वाहिबा नाम सुनकर हँसती हैं और यह मालूम ही नहीं कि जो कुछ है सो मियां फ़िटरू ही है । आजकल की लौंडियों को बड़ा तमीज़ हो गया है कि

* यह शख़्स साहिब को स्वाहिब ही बोलता था ।

शरीफ़ज़ादों के नाम सुनकर हंसती हैं। भई रोवनलाल! इसकी सजा तो तुम को देनी होगी।"

रोवनलाल—"हाँ भई बराबर देंगे और सजा भी ऐसी कि तुम बाग़ बाग़ हो जाओ। लो अब इन कुर्सियों पर बैठ जाओ।"

इतना कहकर रोवनलाल ने एक कुर्सी पर अपना दख़ल जमाया और दूसरी उसके आगे कर दी। मैं भी उनको बैठते देख एक कुर्सी पर बैठ गई। पाठकगण! सुना आपने मेरे आशिक़ का नाम! वाह? "रोवनलाल" क्या ही मौजूं नाम है! किसी रखनेवाले ने ख़ूब समझ सोच के रक्खा है। क्योंकि हज़रत की शक्ल ही—"मियां रोते क्यों हो? ख़ुदा ने शक्ल ही ऐसी दी है" कि मुआफ़िक़ थी। मैं सच कहती हूं, अगर मैं अपने अख़्तियार में होती या मैं ऐसे ख़ान्दान में न पैदा हुई होती तो कभी ऐसे को पास भी न फटकने देती। मगर क्या करूं, हाय! रोज़गार ही यही था। ख़्वाह, कोई अच्छा हो या बुरा, ख़ूबसूरत हो या बदसूरत, जवान हो या बुड्ढा, हिन्दू हो या मुसल्मान, हमको तो अपने मतलब से मतलब था। हम किसी की ख़ूबसूरती पर थोड़े ही रीझती हैं, किसी की जवानी देखकर थोड़ी ही पिघलती हैं। हमको इन सब से कुछ मतलब नहीं, कुछ ग़र्ज़ नहीं; अगर ग़र्ज़ या मतलब है, तो पैसे से है कि जिसके सामने साठ बरस वाले को, हम जैसी नौजवान नोचिएँ "प्यारे, जानी, दिलबर" वग़ैरा अलफ़ाज़ों से पुकारने लग जाती हैं। सच है, जब भगवान को कड़ी सजा देनी होती है तो ऐसे घर में पैदा करता है।

पैसा, पैसा—हाय ! पैसा ! एक ऐसी चीज़ है कि हम तो क्या; तमाम दुनियां इसके क़ाबू में है। फिर क्यों अक़्ल के दुश्मन हमी को "पैसे की आशना" बतलाते हैं। अगर ख़याल से सोचा जाय तो मां, बाप, भाई, जोरू, बच्चे, बच्ची, लेन, देन, व्यवहार, न्याय, इन्साफ़, हाकिम, हुकूमत, यहां तक कि तमाम दुनियां के कारोबार; पैसे के हाथ बिके हैं, सब पैसे के आशना हैं। फिर हमीं को, हां, सिर्फ़ हमीं को, लोग क्यों "पैसे की आशना" बतलाते हैं। फिर हमीं से लोग क्यों ऐसा समझ कर हिक़ारत करने लग जाते हैं। इसका ताज्जुब है !!!

हाँ, तो मैं कह रही थी कि उन लोगों को बैठते देखकर मैं भी बैठ गई। अब रोवनलाल ने मुझ से कहा।

रोवनलाल—"वि साहिब ! आज सिगरेट नहीं पिओगी क्या ? लो यह सिगरेट लो।"

इतना कह कर उस ने पाकट से सिगरेट निकाला और मुझे देने लगा। मैंने कहा :—

"नहीं जनाब मुझे इस वक़्त सिगरेट पीने की हाजत नहीं। क्योंकि हम तो आज कल की लौंडियां हैं, जो पुराने लौंडे हों उनको दीजिय।

रोवनलाल—"ओ हो ! आप तो नाराज़ हो गईं। तुम को ऐसाक रना लाज़िम नहीं"।

इतना कह कर वह उठ खड़ा हुआ और मेरे पास आकर सिगरेट देने और ख़ुशामद करने लगा। मियां फ़िटरू जो अब तक चुप बैठा हुआ था कहने लगा।

"मुआफ़ कीजिएगा बि स्वाहिबा ! अगर आप मुझ ही से नाराज़ हैं तो यह लो, मैं चला जाऊँगा"।

इतना कह कर ज्योंही वह जाने लगा, रोवनलाल ने उसे रोका और एक तरफ़ ले जाकर न मालूम आपस में क्या कानाफ़ूसी की, सो मैं न सुन सकी। इसके पीछे वह तो कमरे के बाहिर हुआ और रोवनलाल मेरे पास आकर बात चीत करने लगा।

रोवनलाल—"क्यों तुम उदास क्यों हो?"

मैं—"क्यों भी नहीं, मैं उदास क्यों होने लगी थी।"

रोवनलाल—"शायद हमारे दोस्त के कहने से तुम नाराज़ हो गई हो तो अब मुआफ़ करो।"

मैं—"नहीं जी, मैं किसी के कहने सुनने से नाराज़ नहीं होती हूं। मगर भई वाह! वल्लाह!! क्या ही उम्दा नाम आपके दोस्त ने पाया है कि जिसकी कुछ तारीफ़ ही नहीं।"

रोवनलाल—"अजी यह तो एक मज़ाक़ाना नाम इनका रख लिया गया है, वरन: इनका असल नाम तो और ही है।"

मैं—"वह नाम शायद इस से भी बढ़िया होगा।"

रोवनलाल—"खैर जी, होगा चाहे जैसा। तुम ने भी एक अच्छा झगड़ा छेड़ दिया। हाँ, तुम अब नाराज़ तो किसी तरह से नहीं हो न। अच्छा, आओ तो, अब हमारे पैर तो थोड़ी देर के लिए दबा दो।"

मैं—"बस, मुआफ़ कीजिए, मेरी आदत है कि मैं उलटे पैर दबवाया करती हूँ—न कि किसी के दबाऊँ।"

रोवनलाल—"अच्छा, न सही, न दबाओ। लेकिन मैं तो आज तुम्हें बिलकुल बेसतर करूंगा।"

इतना कह कर वह मुझ से हाथा पाई करने लगा। यह भी लिख देना मैं मुनासिब समझती हूं कि ऐसा अक्सर हुआ करता था। क्योंकि मैं भी जवान थी और माशाअल्लाह! वह भी नौजवान ही था। ख़ैर मुख़्तसर यह है कि आख़िर में जैसा उस ने कहा था वैसा ही कर दिखाया। याने, मुझे बेसतर करके फ़र्श पर डाल दिया। मैं इस को अभी तक मज़ाक़ ही समझ रही थी, इसलिए मैं फ़र्श पर पड़ी पड़ी हँसने लगी और उसके गुदगुदी करने लगी। उसने इसकी कुछ भी परवाह न की और मुझे अपने क़ाबू में इस तरह कर लिया कि मेरे हाथ पैर दर्द करने लगे। कोई दो मिनट तक तो वह चुपचाप रहा और आख़िर में कहने लगा—"मियां फ़िटरू! ज़रा लैम्प तो मेज़ पर से नीचे रख दो" इतने ही में जिस मियां फ़िटरू को मैं गया हुआ समझती थी, पर्दे के पीछे से निकल आया और लैम्प उठा कर उसकी रोशनी मुझ पर डालता हुआ कहने लगा—"जाने दो भई रोवनलाल! सज़ा हो चुकी। अब छोड़ दो। उठो! बि स्वाहिबा, उठो!! मैं अब आपको ज़ियादह शर्मिन्दा करना नहीं चाहता"। यह सुन कर रोवनलाल ने मुझे छोड़ दिया। ओफ़! कितना गुस्सा और शर्म इस हरकत से मुझे हुआ है कि जिसको मैं बयान नहीं कर सकती। मैं, मारे शर्म और गुस्से के तॉव पेंच खाती हुई उठ खड़ी हुई। पहिले अपने आप को ठीक किया और फिर गुस्से से यों कहने लगी—"यह क्या पाजीपन्? तुम बिलकुल नालायक़ ही हो क्या?"

यह सुनकर मियां फ़िटल्लू ने कहा—

मियां फ़िटल्लू—"न तो हम नालायक़ ही हैं और न यह पाजीपन् ही है। बल्कि यह तो एक सज़ा थी जो तुम को दी गई।"

ओफ़! मैंने अब जाना कि यह उस हँसने की सज़ा थी। मगर मुझे तो गुस्सा अजहद आ रहा था, भला यह भी कोई सज़ा कही जा सकती है। इसलिए मैं मारे गुस्से के एक तरफ़ बैठ गई और रोने लगी। उस वक़्त मियां फ़िटल्लू ने रोवनलाल से कहा:—

"हां भई! अब हम तो जाते हैं। जैसी सज़ा मैं चाहता था वैसी ही दे दी गई।"

रोवनलाल—"हम भी तुम्हारे साथ ही चलते हैं।"

मियां फ़िटल्लू—"क्यों, आज यहां नहीं रहोगे क्या?"

रोवनलाल—"नहीं, आज यहां नहीं रहेंगे। क्योंकि यह तो आज इतनी बल खाई हुई है कि जिसका नाम। मनाने से भी रात भर तक खुश न होगी। इसलिए यहां ठहरना फ़ज़ूल है।"

इतना कह कर वे दोनो शैतान चलते हुए।

देखा आपने! हम लोगों का पेशा कैसा अच्छा है। अफ़सोस! जिस से कभी की जान पहिचान नहीं—जिस से आज ही अव्वल साहिब सलामत हुई—उसी के सामने में आज यों बेसतर की गई, क्या यह शर्म और अफ़सोस की बात नहीं कही जा सकती है? हाय रे हमारा पेशा! इतना कुछ होने पर भी

मैं यह बात किसी से —यहाँ तक कि अम्मां तक से भी—नहीं कह सकती। क्या हुआ अगर हम तवायफ़ हैं तो तवायफ़ ही सही, लेकिन क्या तवायफ़ों के शर्म नहीं होती ?—क्या तवायफ़ें औरत नहीं होतीं ? जो एक बेजाने पहिचाने हुए शख़्स के सामने यों बेसतर होजाँय ! हाय ! इतना कुछ होने पर भी हम कुछ नहीं कर सकीं। अफ़सोस ! यह बातें दिल की दिल ही में रखनी पड़ती हैं। आगे इस हरकत से क्या हुआ ? यह हुआ कि मियाँ फ़िटरू ने यह वाक़्आ तमाम अपने दोस्तों में तफ़सीलवार बयान कर दिया। इस से जब कभी मैं मियां फ़िटरू या और किसी ऐसे उसके दोस्त के सामने होती तो वे सब मुझे यह बात कह कह कर—सुना सुना कर—जलाया करते थे। मैं सुन सुन कर मारे शर्म के कुढ़ जाया करती थी। लेकिन कुढ़ा करूं, हो क्या सक्ता था। पैदाइश ही इस क़िस्म की थी। पेशा ही इस तरह का था। अफ़सोस ! सद अफ़सोस ! !

तीसरा बयान ।

(क्या इसने मेरी तमाम उम्र का ही इजारा ले लिया है?)

"अब चाहूँगा मैं अगर लाख बुराई होगी ।
पर कहीं आँख लड़ाई तो लड़ाई होगी ॥"

(काव्यविनोद)

कोई शाम के चार बजे होंगे, मैं अम्मां के पास बैठी हुई पान लगा रही थी। इतने ही में एक शख़्स जो देखने में भला आदमी मालूम होता था, आया। साहिब सलामत हो चुकने के बाद, अम्मां ने उससे पूछा कि "आप कहां से आते हैं?" उसने जवाब दिया कि "मैं फ़लाने जौहरी का गुमाश्ता हूं। आज उन के यहां कुछ नाच गाना होगा, इसलिए आपकी लड़की के मुजरे की साई देने आया हूं।" मैं इस वक़्त पान लगा रही थी-"मुजरे की साई सुनकर मैंने इस काम से हाथ रोका और बगौर अम्मां की और उसकी बात चीत सुनने लगी।

अम्मां—"क्या आप उनके यहां से आये हैं? अच्छा साहिब, किस वक़्त मुजरा होगा?"

वह—"यही साहिब आज शाम के छः बजे से लेकर रात के नौ बजे तक। अब कहिये इनके मुजरे की क्या फ़ीस ली जायगी?"

अम्मा—"अजी जो कुछ आप देदेंगे, वही मंजूर है। भला आप से क्या फ़ीस कहेंगे।"

वह—" नहीं साहिब, यह तो ठीक नहीं, साफ़ साफ़ मुआम्ला हो जाना चाहिये, ताकि आइन्दा किसी तरह का झगड़ा न पड़े।"

अम्मां—"अजी इस में झगड़े की कौनसी बात है। यही तीस रुपये।"

वह—तीस रुपये! यह तो बहुत हुए। हम सिर्फ़ तीन घन्टे के वास्ते ले जाते हैं, इसी के तीस रुपये? कुछ कम बोलिये।

अम्मां—"अब क्या कम बोलें। जनाब, यह तो आप के सेठ साहिब के लिहाज़ से तीस रुपये कहे हैं, वरना और कोई होता तो बिना चालीस के साई ही नहीं ली जाती (इतना कहकर अम्मां ने मेरी तरफ़ देखा और फिर कहने लगी)। देखते नहीं हैं आप? कितना अच्छा और नया माशूक़ है। जिस वक़्त सज धज के नाचने खड़ी होगी तो यह तीस रुपये तो सिर्फ़ देखने के होंगे।"

वह—" बेशक, यह तो आपने ठीक कहा। लेकिन हम तो इतने नहीं देंगे। अगर आपको मंजूर हो तो बीस रुपये में यह साई ले लीजिये।"

अम्मां—"क्या कहूं मुनीम साहिब! आपके सेठ साहिब का लिहाज़ आता है, वरना इतने में तो साई कभी नहीं लेती।"

इतना कहकर अम्मां ने साई ले ली और मुझ से कहने लगी-" बेटा! छः बजे सेठ साहिब के यहां चले जाना।" मैंने कहा-" बहुत ठीक।" वह आदमी यह बात सुनकर रुख़सत हुआ।

इस जगह पर पढ़नेवाले सोचते होंगे कि " रंडियों को किस बात का लिहाज़"? अव्वल तो उसने तीस रुपये कहे और फिर बीस ही में क्यों साई ले ली? लेकिन इन सब बातों का एक ख़ास सबब था, सो मैं आगे लिखती हूं।

बात यह है कि, जिस शहर में हम रहते थे, उस में एक पोशीदा कमेटी, जिसमें अच्छे अच्छे शख़्स शरीक थे, 'शैतान-पार्टी' के नाम से मशहूर थी। इस पार्टी का मुखिया एक दौलतमन्द सेठ था। यह सेठ अगर्चे इस वक्त बहुतही नेक और सीधा समझा जाता था मगर इसके जवानी के हालात ऐबों से भरे हुए थे। अब भी अगर्चे यह उम्र में अधेड़ हो चुका था लेकिन रन्डी नौकर थी ही। ब सबब दौलतमन्द होने के इस ने उन शख़्सों को खुशामद और दौलत से अपना कर रक्खा था, जो शहर में ऊंचे दर्जे के रईस समझे जाते थे। एक सबब और भी ऐसा था जिससे ये लोग, जो ऊंचे दर्जे के रईस थे, इससे दबते थे। याने यह उन लोगों के पास उम्दा उम्दा रन्डियाँ ले जाया करता था और बहुतों को, जो फ़जूल खर्च और अजहद दर्जे के अय्याश थे, कम सूद पर क़र्ज दे देकर अपने क़ाबू में कर लिया था। यह शैतान-पार्टी, जिसका हाल मैं ऊपर लिख चुकी हूँ, इसी के मकान पर रोज़ रात को हुआ करती थी। इस पार्टी में जौहरी, बड़े बड़े सेठ, वे मुसलमान जो शागिर्दी पेशा करते थे, डाक्टर, हकीम, यहां तक कि सब ही क़िस्म के शख़्स शरीक थे। मेरे आशिक़ मिस्टर रोवनलाल भी इसी पार्टी के अच्छे या ऊंचे दर्जे के मेम्बरों में समझे जाते थे। इस पार्टी के जितने मेम्बर थे सब आपस में अज़हद दर्जे का दोस्ताना रखते थे और रोज रात को अपने अड्डे पर शरीक होकर न मालूम क्या मशविरे किया करते थे सो मैं नहीं जानती। जिस सेठ का मैं ने ऊपर ज़िक्र किया है वह अम्माँ के भी एक मिलने वालों में से था। अम्माँ उससे ब वक्त ज़रूरत के क़र्ज भी ले लिया करती थी और यही सबब था कि आज अम्माँ ने उस जौहरी की साई बीस रुपये ही में मंजूर

कर ली। क्योंकि यह जौहरी भी उस सेठ का दोस्त और एक उस शैतान-पार्टी का मेम्बर था।

ठीक छः बजे मैं बन ठन कर मय सफ़रदाइयों के उस सेठ के मकान पर जा पहुँची। एक निहायत ही उम्दा कमरा, जो झाड़ फ़ानूस, दीवालगीर वग़ैरह से चमचमा रहा था, उस महफ़िल के वास्ते था। हम सब भी उसी कमरे में जा बैठे। अभी तक महफ़िल में लोगों की आमदरफ़्त शुरू नहीं हुई थी, इसलिये मैं, मय सफ़रदाइयों के एक तरफ़ बैठ गई।

कमरे में सिवाय मालिक मकान और दो चार ऐसे ही शख़्सों के और कोई अभी तक न था। मैं बैठी २ कमरे की लगी हुई तसवीरों को देखने लगी। देखते देखते मेरी नज़र एक ऐसी तसवीर पर पड़ी जिसे मैं पहिचानती थी। मैंने जब ग़ौर से उस तसवीर की तरफ़ देखा तो पहिचान लिया कि यह तसवीर उस की है। किसकी है? यह आप लोग भी नहीं समझे होंगे।

बात यह है कि यह तसवीर उस शख़्स की थी, जिसका ज़िक्र मैं दूसरे बयान में कर चुकी हूँ। यह ही शख़्स था जिसने अव्वल ही अव्वल मुझे सरफ़राज़ किया था। लेकिन अगर इन्साफ़ से सोचा जाय तो मुझे सरफ़राज़ किस ने किया था, सो कहते हुए शर्म्म मालूम देती है। हाय! अम्माँ की बेंत की चोटें अब तक मेरे बदन में दर्द करती हैं। उस पहलवान का बुरा हो, कमबख़्त ने इतनी मार मुझे खिलवाई। पाठकगण! अगर आप अब भी न समझे हों तो इस सवाने-उम्री को पढ़ना छोड़ दीजिए या शुरू ही शुरू का एक दफ़ा बयान पढ़ जाइये, ताकि आप को मालूम तो हो जाय कि हम किस तरह से आँख के अन्धे और गांठ के पूरों को फँसाती हैं।

हाँ, तो मैं कह रही थी कि, यह तसवीर मैं ने पहिचान ली। तसवीर को यहां देखने से, मैं ने ख़्याल किया कि वह भी इस महफ़िल में, अगर यहां होगा, तो बराबर आयेगा। क्योंकि तसवीर किसी की कोई तब ही लगाता है जब आपस में किसी तरह का रिश्ता या दोस्ती का बरताव होता है। इस से मेरे दिल को यक़ीन हो गया कि वह बराबर इस महफ़िल में शरीक होगा।

इतने ही में लोगों की आमदरफ़त शुरू हुई। मालिक मकान की तरफ़ से इजाज़त हुई कि मैं पेशवाज़ पहन कर खड़ी हो जाऊँ। मैंने फ़ौरन ऐसा ही किया और खड़ी होकर नाचने लगी।

अब लोगों की आमदरफ़्त बढ़ गई थी। बड़े बड़े आदमी और सेठ साहूकार कमरे में भर रहे थे।

मैंने एक दफ़ा महफ़िल के बैठे हुए आदमियों पर नज़र दौड़ाई तो उस शख़्स को भी देखा जिसकी तसवीर अभी अभी मैं देख चुकी थी। इन आदमियों में रोशनलाल भी था जिसकी मैं आज कल नौकर थी। इस जश्न में उस शैतान-पार्टी के क़रीब क़रीब सब ही मेम्बर थे, जिनका कि मैं नाम इस जगह लिखना पसन्द नहीं करती। इस वक़्त आठ बज चुके थे। महफ़िल का रंग पलट गया था। तमाम आदमी चुप होकर गाना सुन रहे थे। कमरा आदमियों से भर चुका था। शोरोगुल का नाम भी नहीं था।

मैंने यह मौक़ा अच्छा समझा और एक निहायत उम्दा ग़ज़ल शुरू की। आपकी दिलचस्पी के लिये उस ग़ज़ल को ज्यों की त्यों नीचे लिख देती हूँ। यह ग़ज़ल थी जो मैंने उस वक़्त गाई थी।

"नहीं मुमकिन कि इस चर्ख़-दुनी से कामे-जाँ निकले।
"वदन से जानो—दिल से आरज़ू निकले तो हाँ निकले॥
"भला किस तरह मेरे दिल से शक ऐ बदगुमाँ निकले।
"वहीं कहना तुझे जिस में नहीं निकले न हाँ निकले॥
"जला हूँ आतिशे-फुरक़त से ऐसा शोलः रूयों की।
"जो आहे सर्द भी खींचूं तो सीने से धुआँ निकले॥
"मुझे क्या तीरे-मिज़गां तेग़-अबरू से डराते हो।
"रक़ीबों को भी बुलवाओ तो लुत्फ़े इमतिहाँ निकले॥
"नहीं दैरो-हरम से काम हम उलफ़त के बन्दे हैं।
"वही काबा है अपना आरज़ू दिल की जहाँ निकले॥
"फ़िराक़े-यार में रोने से क्या तसकीन होती है।
"जिगर की आग बुझ जाती है दो आँसू जहां निकले॥"

(असग़र)

ज्योंही मैंने गज़ल खतम की तमाम आदमियों ने "वाह !वाह! क्या कहना है!!" की झड़ी लगा दी। मेरे और जिसकी तसवीर का अभी ज़िक्र करचुकी हूँ उसके, बराबर आँखें लड़ रहीं थीं। जब मैंने इस गज़ल का आख़िरी शेर गाया और एक दिलकश इशारा इस के साथ ही छोड़ा, तो वह पानी पानी हो गया और मेरे साथ बराबर आँखें लड़ाने लगा। मगर यह सब मिस्टर रोशनलाल से कब बर्दाश्त हो सकता था। वह बैठा बैठा मुझपर दांत चबा रहा था, मैंने इसकी कुछ भी परवाह नहीं की और उसके जलाने के लिए दूने दूने इशारे किये। मैंने इस वक़्त एक ठुमरी छेड़ी। मगर किसी ने भी पसन्द न की और गज़ल के वास्ते कहा। इसलिए मैंने यह नीचे लिखी हुई गज़ल फिर शुरू की।

"जलाया आप हमने ज़ब्त कर कर आहे सोज़ाँ को।
"जिगर को, सीने को, पहलू को, दिल को, जिस्म को, जाँ को॥
"हमेशा कुंज तनहाई में मूनिस हम समझते हैं।
"अलम को, यास को, हसरत को, बेताबी को, हिरमां को॥
"जगह किस किस को दूँ दिल में तेरे हाथों से ऐ क़ातिल।
"कटारी को, छुरी को, बांक को, ख़ंजर को, पैकां को॥
"नहीं जब तूही ऐ साक़ी भला फिर क्या करे कोई।
"हवा को, अब्र को, गुल को, चमन को, सहने बुस्ताँ को॥
"नहीं कुलकुल दुआ देता है शीशा दम बदम साक़ी।
"सबू को, खुम को, मय को, मयकदे को, मय परस्तां को॥
"तुझे दिल देके मैं ऐ काफ़िरे बे मेहर खो बैठा।
"ख़िरद को, होश को, ताक़त को, जी को, दीनो-ईमाँ को॥
"लड़ा कर आँख उससे हमने दुश्मन कर लिया अपना।
"निगह को, नाज़ को, अन्दाज़ को, अबरू को, मिज़गाँ को॥
"तेरे दन्दानो-लब ने कर दिया बेक़द्र आलम में।
"गोहर को, लाल को, याकूत को, हीरे को, मरजाँ को॥
"बनाया ऐ 'ज़फ़र' ख़ालिक़ ने कब इन्सान से बेहतर।
"मलक को, देवको, जिन को, परी को, हूरे-गिलमाँ को॥"

(ज़फ़र)

ख़ैर, मुख़्तसर यह है कि, योंहीं मुझे गाते नाचते नौ बज गये। अब महफ़िल बरख़ास्त होने का वक़्त आ गया। मैंने एक अपने जान पहिचान के आदमी से अपनी नथ उतारनेवाले की बाबत पूछा कि "यह यहां कैसे?" जवाब मिला कि "वाह! तुमको मालूम नहीं? यह—जिस जौहरी की आज महफ़िल है—उसके साले होते हैं।" "साले होते हैं!" यह मैंने तअज्जुब से कहा।" क्योंकि पहिले यह मै नहीं ज़ानती थी। पाठकगण!

आप को भी जान लेना चाहिये कि यह शख़्स जिसकी तसवीर का अभी अभी में जिक्र कर चुकी हूं इस जौहरी का साला था। यह इस शहर का रहनेवाला न था। यहां तो कभी कभी आजाया करता था और जब आता तो मेरे वास्ते कुछ न कुछ चीज़ बराबर भेजता था।

अब कमरा ख़ाली हो चुका था। इसलिये हमने रुख़सत चाही। फ़ीस हम को दे दी गई और हम मकान चले आये।

....

ज्योंही मैं मकान पहुंची तो सुना कि रोवनलाल पहिले ही से मेरे कमरे में मौजूद है। मैंने फ़ौरन ज़ेवर वग़ैरह उतारा, कपड़े बदले और कमरे में दाख़िल हुई। मैंने देखा कि रोवनलाल पलंग पर दुलाई ओढ़े लेटा हुआ है इसलिये मैं भी पलंग पर ही बैठ गई।

यह मुझे अच्छी तरह मालूम था कि, आज महफ़िल में जो कुछ मैंने किया है उसी का गुल अब खिलनेवाला है। मैं थोड़ी देर तक तो बैठी रही। आख़िर जब देखा कि मुआमला गहरा है, बग़ैर छेड़ छाड़ किये काम नहीं चलेगा तो मैं यों कहने लगी—

"प्यारे! ओ प्यायरे!! क्या सो गये? अभी तो महफ़िल में मौजूद थे। क्या इतनी जल्दी नींद आ गई?"

रोवनलाल—"चुप रह! मैं तुझसे बोलना नहीं चाहता।"

मैं—"क्यों, बोलना क्यों नहीं चाहते? अगर नहीं बोलना चाहते हो तो फ़िर यहां क्यों आये हो आज यह क्या बात है? इतने उखड़े उखड़े क्यों बोलते हो?"

रोवनलाल—"चुप रह? नालायक़, फिर वही बात!! तुझे शर्म नहीं आती ऐसा कहते हुए। किस मुँह से तू यह बातें बनाती है?"

मैं—"देखो जी, गाली वाली मत दो। ज़बान संभाल के बोलो। मैंने क्या किया है जो तुम इतने बिगड़ते हो?"

इतना सुनकर तो वह फ़ुरती से पलंगपर उठ बैठा और कहने लगा।

"हरामज़ादी! उलटा ही तो कुसूर करना और फिर उलटा ही गुर्राना। क्यों वे! आज महफ़िल में जौहरी के साले के सामने देख देख कर क्या इशारे कर रही थी? और जिस पर तुर्रा यह कि मेरे ही सामने-मुझे ही दिखा दिखा कर।"

यह कहकर फ़ुरती से वह पलँग पर से उठ खड़ा हुआ और एक बेंत—जो कोने में रक्खा हुआ था—उठा कर ज़ोर से मेरे मार दी।

उसका बेंत मारना था कि मैं आपे से बाहर हो गई। एक तो अव्वल ही मैं 'मियां फ़िटरू' वाली वारदात से जली हुई थी; दूसरे इस बेंत की चोट ने तो गज़ब ही किया। मैं उस वक़्त, मारे गुस्से के दीवानी होगई और चिल्ला कर कहने लगी—

"दूर हो मुये नाहिन्ज़ार कहीं के! ख़बरदार, अब कहीं बेत उठाया है तो। हां, हमने देखा, उसकी तरफ़ इशारा भी किया। क्या तूने मेरी तमाम उम्र का ही इजारा ले लिया है? मैं ऐसे बगलोल की नौकरी नहीं करना चाहती।"

इतना कहकर, मैं गुस्से से तॉव पेंच खाती हुई कमरे के बाहिर आई और ज़ोर ज़ोर से अम्माँ को पुकारने लगी। वह इस वक्त सो रही थी इसलिए, मेरे ज़ोर से पुकारने पर घबराई हुई बाहर निकली और मेरी यह हालत देखकर कहने लगी—

"बेटा, क्या है? इतनी चिल्ला कर क्यों पुकारती हो?"

मैं—अम्माँ! मैं अब रोवनलाल की नौकरी नहीं कर सकती। अगर तुम मुझे चाहती हो तो अभी तनख़्वाह वसूल करके इस पाजी को घर से बाहिर निकाल दो।" इसका जवाब अम्माँ तो देही रही थी कि बीचही में रोवनलाल आ धमका और कहने लगा।

"चुप रह, नालायक़ कमीनी बदमाश, औरत! मैं खुदही तुझ फ़ाहिशा को नौकर रखना नहीं चाहता। (अम्माँ से) यह लो जी नायका जी! तुम्हारी तनख़्वाह"।

इतना कहकर वह पाकट से रुपये निकालने लगा। मेरी अम्मां जो अभी तक इस बात को नहीं समझ सकी थी—उसके पास चली आई और खुशामद से कहने लगी—"ऐ सदक़े! ऐ कुरबान! सरकार! क्या हुआ? मैं वारी जाऊं, कुछ लड़की से कुसूर हो गया है क्या? इधर आप भी जामे से बाहिर हो रहे हैं। इधर यह भी मारे गुस्से के तीन तेरह हो रही है। यह बात क्या है?"

इसके पहले कि वह कुछ कहे, मैं बीच ही में बोल उठी।

मैं—"बस, अम्मां! बस, अब ज़्यादा पूछने पाछने की ज़ुरूरत नहीं है। अगर तुम मुझे अपनी बेटी समझती हो तो तनख़्वाह के रुपये लेलो। मैं ऐसे की नौकरी करना नहीं चाहती।"

अम्मां—"क्यों बेटी! हुआ क्या है जो तुम ऐसा कहती हो? मैं जानूं भी तो क्या हुआ है?"

रोवनलाल—"बस जी जानने की कोई ज़ुरूरत नहीं। यह लो तुम्हारी दो महीने की तनख़्वाह।" इतना कहकर उसने दो नोट अम्मां की तरफ़ फेंक दिए और यह कहता हुआ मकान के बाहर हुआ—"देख नालायक़! इसका कैसा कड़ा बदला मैं तुझसे लेता हूँ।"

अम्मां अब भी ज्यों की त्यों खड़ी थी। जब वह मकान के बाहिर चला गया तो अम्मां मुझ से पूछने लगी—"बेटा! यह क्या बात है? वह इस तरह कैसे नाराज होके चला गया?"

मैंने कहा—"अम्मां! बस कुछ न पूछो, आज उसने मेरे बेत मारी, भला यह भी कोई बात है। मैं पलंग की नौकर हूं कि मारने कूटने की। आज तो उसने बेत ही मारी, कल और कुछ करेगा। इसलिए मैंने उसकी नौकरी छोड़ दी।"

यह बात सुनकर अम्मां ने मुझे बारहा समझाया कि—"बेटा! यह ठीक नहीं, भला इस तरह करोगी तो गुज़ारा कैसे होगा?" लेकिन मैंने एक न मानी और कहने लगी—"अम्मां! तुम कुछ भी फ़िक्र मत करो, अपनी तक़दीर पर भरोसा रक्खो। क्या इस शहर में यही अमीर है और कोई है ही नहीं?" यह सुनकर अम्मां कहने लगी—"अच्छा बेटा! तुम्हें जो अच्छा लगे सो करो। मैं तो अब बुड्ढी हुई। यह बुढ़ापा तुम्हारे पीछे निकलेगा। जब तुम बच्ची थीं, तब तो मैंने तुम्हें खिलाया, पाल पोसके इतना बड़ा किया। अब तुम समझदार हुई—कमाने लायक़ हुई—इसलिए जो तुम्हारे जी में आवे सो करो।"

इतना कहकर मां सोने के लिए कमरे में चली गई। मैं भी अपने कमरे में आकर पलंग पर लेट गई।

आप लोग शायद समझते होंगे कि "यह बिलकुल झूठ है।" ऐसा कोई तवायफ़ भी नहीं कर सकती। मगर आप यह नहीं जानते कि जो ऐसे होते हैं उन्हीं के साथ हमको ऐसा करना पड़ता है। अगर हम ऐसा न करें तो हर कोई ही हमें दबा ले। इसलिए हमको "जैसे के साथ तैसा" करना पड़ता है।

चौथा बयान ।

" कालेराम "

" खूबरू खूब काम करते हैं। एक निगह में गुलाम करते हैं॥"

(गज़ल संग्रह)

पाठक गण ! आप लोगों को अब यह कहने की ज़रूरत न रही कि "रोवनलाल से मेरा ताल्लुक़ क्योंकर टूटा।" आप लोगों ने पिछले बयानों में पढ़ाही होगा कि किस तरह से और किस बात पर मैंने उसकी नौकरी छोड दी। ख़ैर, यह तो तै हुआ, मगर एक बात—जो अभी तक आप लोगों को भी नहीं माळूम हुई है—यहां पर कह देना ज़रूरी समझती हूं। अगर्चे मिस्टर रोवनलाल से ताल्लुक़ क़तई टूट चुका था और उसने भी मेरी दो महीने की तनख़्वाह दे दिवा के हिसाब वेवाक़ कर दिया था। मगर अफ़सोस ! इतने दिन की नौकरी का सार्टीफ़िकिट मुझे मिल चुका था, याने इतने दिन की नौकरी का नतीजा साढ़े सात महीनों में खुलने वाला था। इस नतीजे या सार्टीफ़िकिट के मिलने से, मैं खुश थी या ना खुश, सो मैं नहीं कह सकती। आप ख़ुद सोच सकते हैं कि ऐसे नतीजों से हम लोग कहां तक खुश या नाखुश हो सकती हैं। अम्मां कुछ इससे नावाक़िफ़ नहीं थी। उसे भी इस सार्टीफ़िकिट या नतीजे का पूरा हाल माळूम था जिससे वह वहुत ही खुश रहती थी। यहां तक कि मारे मन्नतों के दरगाहों और मन्दिरों को महंगे कर दिये थे। ख़ैर, बात यह है कि मैं डेढ़ महीने के हमल से थी।

रोवनलाल आज कल मेरे ऊपर बहुत ही जला हुआ था। उस शैतान-पार्टी के मेंबरों ने—जो उसके दोस्त थे—रोवनलाल को लानत मलामत कर कर के यह क़सम ले ली थी कि वह मुझ से इस हरकत का पूरा बदला ले। ख़ास कर इस शैतान-पार्टी के यही काम होते थे। इसमें रंडियों और उनके आशिक़ों के ऐसे ही फ़ैसले हुआ करते थे। वह सेठ, जिसको हम दूसरे लफ़्ज़ों में रंडियों का दल्लाल भी कह सक्ते हैं, इन ऐसे मुक़द्दमों को यों बात की बात में तै कर दिया करता था कि जो बड़े बड़े हाकिमों और मुनसिफ़ों से बरसों में न हों। मगर यह मेरा मुक़द्दमा संगीन था। इसलिए इसका फ़ैसला यह दिया गया कि रोवन-लाल मुझ से बदला ले। अब उसने मुझसे इसका क्या बदला लिया सो आगे मालूम होगा।

आज शहर में नाटक था। इसलिए मैंने अम्माँ से नाटक में चलने को कहा। उसने मंज़ूर किया और मैं रात होने का इन्त-ज़ार करने लगी।

दिन योंही बातों में कट गया। जब रात के आठ बजे तो हम सब बहली में बैठकर नाटक की तरफ़ रवाना हुए।

मेरे कपड़े और मेरी ख़ूबसूरती आज देखने के क़ाबिल थी। एक तो अव्वल ही मैं भगवान की इनायत से बदसूरत न थी, दूसरे आज का तो कहना ही क्या है। आज तो मैंने इस क़ुदरती ख़ूबसूरती को ख़ूब—'सन् लाइट,' 'विनोलिया' 'पी-यर्स;'—वग़ैरा वग़ैरा साबनों से घिस घिस कर धोया था। भला हो इन अँगरेज़ों का कि ऐसी ऐसी चीज़ें ईजाद की हैं कि जिनके इस्तेमाल से एक मरतबः तो गधा भी घोड़ा हो जाय। यह तो ख़ूबसूरती के पालिश और सैक़ल का हाल हुआ। अब मैंने कपड़े कैसे पहिने थे सो भी सुनिये।

वाक़ई मेरे कपड़े आज देखने के क़ाबिल थे ; क्योंकि आज मैंने पजामा वगैरा नहीं पहना था, आज वही ड्रेस पहनी थी जो मुझे ज़्याद: पसन्द थी।

एक बहुत ही बढ़िया काले रंग की रेशमी साड़ी—जिसके चौतरफ़ पारसी फ़ैशन की किनारी लगी हुई थी—मैंने आज कितनों ही पर क़यामत ढाने के लिए पहनी थी। मेरा गोल गोल, गोरा, नमकीन और ख़ूबसूरत चेहरा इस काले रंग की साड़ी के नीचे ऐसा मालूम होता था गोया चाँद राहु के डर से काले बादलों में छुपा हो। धानी रंग का पारसी फ़ैशन का जाकिट मेरे सुडौल जिस्म को और भी सुडौल किए देता था। उठा हुआ सीना इस कसे हुए जाकिट के अन्दर इतना भला मालूम होता था कि देखनेवाले दिल मसोस कर रह जाते थे। पतली कमर, जो सीने के भार से लचकी जाती थी, रह रह के आशिक़ों का दिल अपना किये लेती थी, पैरों में मैंने आज कुछ जेवर नहीं पहिना था, सिर्फ़ गुलाबी रंग के लेडीज़ मोजे और डासन कंपनी के लेडीज़ गुरगाबी ही पहिने थे जो इस लिबास के नीचे बहुत ही भले मालूम होते थे। इन सब चीज़ों ने मिल कर मेरे कुदरती हुस्न को इन्तेहा दरजे तक पहुँचा दिया था। जब मैं इस बनाव और सवाँर से आईने के सामने खड़ी हुई तो दिल ही दिल कहने लगी—"अगर अब भी कोई मुआ न रीझे तो तक़दीर की बात।"

ठीक साढ़े आठ बजे हम नाटक में जा पहुँचे। रिज़र्व्ड सीट का टिकिट होने से हम को बैठने में किसी तरह की तकलीफ़ न हुई

आज देखनेवालों की भीड़ ज़्याद: थी, तमाम कुर्सियें आदमियों से भरी हुई थीं, शोरोगुल ख़ूब मचा हुआ था।

जिस कुर्सी पर मैं बैठी हुई थी उसकी बराबर की कुर्सी पर एक़ इज़्ज़तदार शख़्स बैठा था। देखने में बनियाँ सा मालूम होता था। अगर्चे वह बिलकुल बदसूरत था और रंग का काला था लेकिन फिर भी अपने को जेवरों से इतना लादे हुए था कि उस का मालदार होना साफ़ ज़ाहिर होता था। उम्र का नौजवान था। देखने में शौक़ीन मालूम होता था। ग़रज़ कि यह शख़्स ऐसा था "सावन सूखा कहैं या भादों हरा।"

ज्योंही मैं उस कुर्सी पर बैठी, उसने तो मुझे बेतरह घूरना शुरू किया। मैंने मुंह फेर कर अम्माँ के कान में कहा—"अम्माँ! यह कौन है? यह तो मेरी तरफ़ बुरी तरह देखता है।" अम्मां ने भी उसी तरह जवाब दिया—"बेटा! मैं पहिचान गई, यह फ़लाने सेठ का लड़का है। सोने की चिड़िया है। बस, जाने न पावे। यही मौक़ा है फँसाने का।" बस फिर क्या था, मैं भी लगी इशारे करने और फ़िक़रे छोड़ने।

इस वक़्त पहली घन्टी हुई और पहला पर्दा उठा। अभी तमाशा शुरू होने में दस मिनट की देर थी। मैंने उस कालेराम से बात छेड़ने के बहाने यह पूछा—"क्या आप को मालूम है आज कौनसा नाटक खेला जायगा?" और साथ ही एक दिल कशिश करनेवाला इशारा भी छोड़ दिया। बस, फिर क्या था, कालेराम पिघलकर मोम हो गये और बड़े चाव से कहने लगे* "हांजी! मने मालम है। देखो, आच्छयो सोही नाम है....एं.... एं....काई....आं....आं....खू—खू—खूननाथ—खूननथ को तमाशो है आज।" इस जवाब को सुनकर मैंने अपनी हँसी

* 'जी हां, मुझको मालूम है। देखो, देखो अच्छा सा ही नाम है। हां हां ख़ूनाथ (ख़ूने नाहक़) का तमाशा है आज।"

ज़बरदस्ती रोकी। क्योंकि अगर मैं यह जवाब सुनकर खिलखिला उठती तो सब काम ही चौपट हो जाता। इसके सुनने से मुझे यह अच्छी तरह मालूम हो गया कि कालेराम बिलकुल कालेराम ही हैं। बने बनाये काठ के उल्लू हैं। मालूम होता है आप बिलकुल उर्दू नहीं जानते तबही तो "खूने नाहक़" को "खूननाथ" फ़रमाया है। मैंने अब ज़्यादह बात चीत करना अच्छा न समझा इसलिए चुप रही। मगर वह कब मानने वाला था, मुझसे पूछने लगा—"*क्यों जी, आपको नाम काँईं है?" मैंने मुस्कराते हुए जवाब दिया—"जी, मुझे सूरज जान कहते हैं।"

कालेराम—"¹तो तम हिन्दू हो?"

मैं—"जी हाँ।"

कालेराम—"²और यह तमारी बराबर बैठ्या हैं सो कुण हैं?" मैं—"जी, यह मेरी माँ हैं।"

कालेराम—"³बोलो, अगर हूँ थाने बुलाऊँ तो आबो के नहीं?"

मैं"—बराबर आऊँ। भला आप बुलावें और मैं न आऊँ!"

कालेराम—"⁴अच्छ्यां तो हूँ थाने काल बुलायस्यूं। लो म्हारा हाथ रो पान तो लिराओ?"

इतना कहकर उसने पानों की डिबिया पाकिट से निकाली और दो पान मुझे देने लगा। मैंने कहा—

"जी, मुआफ़ कीजिए, मैंने इस वक्त पान खा रक्खा है।"

---

* "क्यों साहिब आप का नाम क्या है?"

१ "तो तुम हिन्दू हो?"

२ "और यह जो तुम्हारी बराबर बैठे हैं, सो कौन हैं?"

३ "कहो! अगर मैं तुमको कल बुलाऊँ तो आवो कि नहीं?"

४ ठीक है, मैं तुमको कल बुलाऊँगा। लो, मेरे हाथ का पान तो लो?"

कालेराम—"[१]अजी वाह ? म्हारा हाथ सू पान न लिराओ! थाने म्हारी आण है सा, यो तो लेणूज पड़सी।"

इतना कह कर उसने जबरदस्ती वह पान मेरे हाथ में दे दिया। अब मैं क्या करती, लाचार होकर मुझे पान लेना पड़ा और पीछे अम्मां ने इशारा भी कर दिया था, इसलिए तसलीम करके फ़ौरन मुँह में दाखिल किया।

इस हरकत पर एक चौथे कुरसीवाले ने आवाज़ कसी। मैंने जो मुँह फेर कर उस तरफ़ देखा तो दिल खुश हो गया। एक निहायत ही खूबसूरत जवान उस कुरसी पर बैठा हुआ था। मैं सच कहती हूं, उसकी अदा कुछ ऐसी प्यारी माल्रुम हुई कि, दिल हाथ से जाता रहा। उसकी रसीली आँखों ने तीर का काम किया। उसका वह गोल गोल खूबसूरत चेहरा और सुडौल जिस्म मुझे तो उस वक्त इतना प्यारा माल्रुम हुआ कि मैं दिल से आशिक़ हो गई। मैं दिल ही दिल कहने लगी कि अगर यह 'खूबरू' किसी तरह क़ाबू में आजाय तो क्या कहना है। एक मरतबा: तो दिल खुश कर लूंगी। देखें, तक़दीर तो आज़माऊं, पेश आती है कि नहीं।

इतना मन ही मन सोच कर मैंने उस खूबरू को घूरना शुरू किया। मगर अफ़सोस! उसने अपनी वह रसीली आँखें फेर लीं और नज़र भी न मिलाई। मैं दिल ही दिल एक आह भर कर रह गई। सच है "अन मांगे मोती मिलें, मांगी मिले न भीख।"

मैं पहिले लिख आई हूँ कि मेरी बराबर की कुरसी पर कालेराम बैठा हुआ था। सो उस को इस बात की मुतलक़

---

[१] "अजी वाह। मेरे हाथ से पान नहीं लेओ! तुमको मेरी क़सम है, यह तो लेना ही पड़ेगा।"

ख़बर न हुई। वह ड्रापसीन के परदे को देखने में इतना लगा हुआ था कि जिस का नाम।

इतने ही में तीसरी घन्टी हुई, परदा उठा और "ख़ूने नाहक़" का पहिला सीन शुरू हुआ। मैं नाटक देखने लगी।

हमारे कालेराम जो अब तक चुपचाप बैठ हुए थे, अब मुझ से क्या फ़रमाते हैं—"*क्यों जी सूरज जी, यांमें ख़ून-नाथ कुण सो है ?" अब भला आप ही फ़रमाइए कि इस उल्लू के पट्ठे को मैं इसका क्या जवाब देती और कैसे समझाती कि "ख़ूननाथ कुण सो है।" इसलिए मैंने कहा कि "जनाब ! मैं जब ख़ुद ही नहीं जानती कि इनमें कौन "ख़ूननाथ" है तो भला फिर आप को क्या समझाऊँ।" यह जवाब सुन कर काले-राम ने मुँह बिगाड़ लिया और चुपके चुपके नाटक देखने लगा।

इस कम्पनी का "हेमलेट" बहुत ही मशहूर था। ज़्यादः करके तमाशबीन इसी तमाशे में आते थे। आज भी तमाशा अच्छा जच गया था। एक्टर्स अच्छा काम कर रहे थे, जिस में खास कर जो 'हेमलेट' बना हुआ था उसका तो कहना ही क्या है। वल्लाह ! इस तरह ड्रामा कहता था कि सुननेवालों के दिल फड़क उठते थे।

आगे का हाल सुनिए। जब जब सीन बदलता था, काले-राम मारे खुशी के चीख़ उठते थे। दो एक दफ़ा फिर मुझ से पूछताछ की, लेकिन नालदार जवाब सुन कर चुप रहे।

मैंने दो एक मरतबा उस ख़ूबरू की तरफ़ भी देखा, लेकिन वह नाटक देखने में इतना लगा हुआ था कि आंख भी

---

*"क्यों साहिब सूरज जी ! इन में ख़ूननाथ (जहांगीर या हैमलेट) कौनसा है ?"

न मिलाई। इतने ही में "ख़ूने नाहक़" का पहला ड्रापसीन पड़ा। लोग उठ उठ कर हाउस के बाहिर जाने लगे। यह गड़बड़ देखकर कालेराम भी उठे और बाहिर जाने को तैयार हुए। अपना दुशाला उशाला उठा कर ज्योंहीं बाहिर जाने लगे तो मुझसे क्या फ़रमाते हैं—"*सूरज जी! आवो बारे चालाँ?" मैंने कहा—"नहीं हम लोग बाहिर नहीं जाया करते हैं।" यह कहकर वह बाहिर रवाना हुआ.

यह मैं पहलेही कह चुकी हूँ कि हमारी कुर्सी से चौथी कुर्सी पर वह ख़ूबरू जवान बैठा हुआ था। सो जब ड्रापसीन पड़ा और तमाशबीन बाहिर जाने लगे तो वह भी बाहिर जाने के लिए उठा। यह मौका मेरे लिए अच्छा था, क्योंकि उसके बाहिर जाने का रास्ता बिलकुल मेरे पास होकर था। ज्योंहीं वह पास होकर जाने लगा मैंने अपना पैर उसके पैर से लगाकर नज़र मिलाई। आंखें चार हुईं और वह मुसकरा दिया! अहा हा हा! कितनी ख़ुशी मुझे उसके इस मुसकराने से हुई है, जिस मैं किसी तरह भी ज़ाहिर नहीं कर सकती। उसके इस मुसकराने ने मेरी नाउम्मीद उम्मीद में पलट दी और मुझे पक्का यक़ीन हो गया कि तीर निशाने पर ही लगा है। मेरा वह पहले वाला रंज, जो मुझे उसकी नज़र फेरने से हो गया था, अब उसके इस मुसकराने ने ख़ुशी में पलट दिया। क्या उसने मेरे दिल की जान ली? क्या उसे भी यह मालूम होगया कि मैं उसपर मरती हूँ? हाय!! अगर सच ही ऐसा हुआ तो बेड़ा पार है। उसके मुसकराने से तो ऐसा ही मालूम होता है। पीछे भगवान की मर्ज़ी, क्या भगवान इतनी भी मेरी नहीं सुनेंगे?

*सूरज जी! चलो, बाहिर चलें।

इतने में टन टन टन करके पहली घन्टी हुई। अम्माँ ने मुझसे पूछा कि "बेटा! उसने क्या क्या बातें कीं?" इस पर मैंने वे तमाम बातें—जो उसके और मेरे बहुत आहिस्ता आहिस्ता हुई थीं और जिनको अम्माँ भी न सुनने पाई थी—कह सुनाईं। जिनको यहां पर दोहराने की जरूरत नहीं। यह बातें सुनकर अम्माँ ने कहा—"ठीक है बेटा! उसकी तबिअत तेर पर आगई। अब तू ऐसा काम कर जिससे वह अच्छी तरह क़ाबू में आ जाय।" मैंने कहा—"मैं ऐसा ही करूंगी। लेकिन अम्माँ! यह तो बिलकुल उल्लू है। बिचारा उर्दू बोलना भी नहीं जानता। यह कहाँ का रहनेवाला है? यहाँ का तो नहीं मालूम होता।"

अम्माँ—"नहीं, यह इस शहर का रहनेवाला नहीं है। यहाँ तो यह योंहीं सैर करने को आ जाया करता है। इसका वालिद भी योंहीं आया करता था।"

मैं—"ठीक है अम्माँ, तुम किसी तरह का फ़िक्र मत करो। यह तो क़ाबू में आ गया—भारी चंडूल जाल में आ फँसा। अब बगैर दो चार हजार वसूल किये इसका पीछा थोड़ाही छोड़ने वाली हूँ।"

इतना कहकर मैं चुप रही। मैंने अम्माँ से उस खूबरू का जिक्र नहीं किया। क्यों नहीं किया—इसका एक सबब है, सो मैं जाहिर करना नहीं चाहती।

अब दूसरी घन्टी हुई। लोग बाहिर से आ आकर अपनी सीटों पर बैठने लगे। मगर अभी तक कालेराम और खूबरू बाहिर से नहीं आये थे। मैंने जो बाहिर जाने के दरवाजे पर नजर की तो कालेराम और खूबरू को बातें करते पाया। इससे मुझे मालूम हो गया कि इन दोनों में जरूर जान पहिचान है। अब मुझे कालेराम से उस खूबरू का पता पूछने का अच्छा जरिया हाथ आ गया था।

टन टन टन करके तीसरी घन्टी बोली और ड्रापसीन उठा। जो तमाशबीन बचे खुचे बाहिर रह गये थे, वे धमाधम अन्दर आने लगे। अब कालेराम और वह खूबसूरत जवान भी अन्दर आये। मैंने फिर खूबरू की तरफ़ देखा और मुसकुराया, उसने इस मुसकुराने का जवाब मुसकुराने में ही दिया, जिस से मुझे अज़-हद् खुशी हासिल हुई। खैर दोनों आकर अपनी अपनी कुर्सियों पर बैठ गये! मैंने कालेराम से बात छेड़ने के बहाने कहा—"लाइये जनाब! पान दीजिए!!"

* कालेराम—"क्यों साब, अब कै चलार पान कियान मांग्यो?"

मैं—"आप के हाथ का पान मुझे अच्छा मालूम होता है।"

† कालेराम—"हाँ, इस्यान है! जणा तो लिराओ साब!"

मैंने पान लेते हुए कहा—"क्यों साहिब, कल आपने मुझे बुलाने का वादा किया है, सो बुलाओगे कि नहीं?"

‡ कालेराम—"वाह? बेसक बुलास्यूँ। हाँ, थांकी फीच कांई छै?"

मैं—"मुझे मालूम नहीं। कल आप आदमी भेजकर अम्माँ से दरयाफ़्त कर सक्ते हैं। क्योंकि मैं अभी तक फ़ीस में कहीं भी नहीं गई हूँ और न जाने की उम्मीद है।"

§ कालेराम—"ठीक! तो थे हाल तांई इस्यान कोन जाओ।"

मैं—"जी हां! हां, एक बात तो मैं आप से पूछना भूल ही गई कि, जो आप से अभी बाहिर बातें कर रहे थे, वे कौन हैं?"

‖ कालेराम—"मैं वाँने कोने जाणूँ। म्हारे कना सें वह

---

* "क्यों साहिब, अब के मर्तबा चलाकर पान किस तरह मांगा?"

† "हां, इस तरह पर है, तब तो लीजिए साहिब!"

‡ "वाह! बेशक बुलाऊंगा। हां, तुम्हारी फीस क्या है?"

§ "ठीक है, तो तुम अभी तक इस तरह नहीं जाते हो।"

‖ "मै उन को नहीं जानता। मेरे पास से सिर्फ उन्हों ने दिया सलाई मांगी थी; जब तुम ने हम दोनों को पास पास खड़े देखा होगा और वे है कौन सो मै नहीं जानता।"

दियासलाई मांगी छी, जद थे म्हां दोन्याने कने कने ऊवा देख्याज होसी, और वह है कुण या मने ठीक कोना।"

यह जवाब सुनकर मैं नाटक देखने लगी। वह भी नाटक देखने में मशगूल हुआ। उसके इस जवाब से मैं कोई नाउम्मीद नहीं हुई, क्योंकि अगर मैं चाहूँ तो क्या उसका सच्चा और पूरा पता नहीं दरयाफ्त करा सकती हूँ।

योंहीं होते होते दूसरा ड्रापसीन गिरा। इस वक़्त वह खूबरू बाहिर जाने लगा। मगर कालेराम ने उसे टोका और कहा कि वह भी उसके साथ बाहिर चलेगा। लेकिन उसने जवाब दिया कि वह बाहिर नहीं जाता बल्कि घर जाता है, तीसरा ड्रापसीन नहीं देखेगा।

यह मैं पहिले ही कह चुकी हूँ कि इस शख़्स पर मेरी तबिअत आ गई थी, इसलिये उसके चले जाने से मुझे कुछ रंज सा हुआ। ऐसा क्यों हुआ, सो मालूम नहीं। शायद मुहब्बत के सबब से हुआ हो।

मैं अब इस फ़िक्र में लगी कि इस खूबरू का पूरा पता कैसे दरयाफ्त किया जाय। यह किस तरह से मुझ से मिलै। हाय! क्या करूं, मैं अम्माँ के बस में थी, नहीं तो मेरा दिल इस पर इतना आ गया था कि मैं यों मुफ्त ही इस की तावेदार हो जाती। मगर कहां, ऐसा तो हो नहीं सक्ता था। ख़ैर, देखा जायगा। कभी न कभी तो मेरी दिली मुराद पूरी होगी और मैं इस खूबरू को गले से लिपटाकर...........हाय! क्या, कभी ऐसा होगा?

मुख़्तसर यह है कि हमने तीसरा सीन भी मज़े से देखा। इस दरमियान में मेरे और कालेराम के कोई ऐसी बात न हुई जिस को मैं यहां लिखती। हां, जाते वक्त कालेराम ने इतना सा कहा था कि *"काल आज्यो!" जिस का मैंने जवाब दिया कि "देखा जायगा" और मैं अम्माँ के साथ घर चली आई।

* "कल आना!"

पाँचवाँ बयान ।

(शैतान-पार्टी की दल्लाली)

"कस रा वकूफ़ नेस्त कि अंजामे कार चीस्त"।

(गुलिस्तों)

ठीक दस बजे दिन के, मैं खाना खाकर *उस्ताजी से तालीम लेने लगी। मेरे गाने बजाने के उस्ताद एक नामी सरंगिये थे। शहर में इनकी सरंगी बजाने की तारीफ़ बहुत कुछ थी। यह कुछ पढ़े लिखे भी थे, इस से अम्मां ने इनके बारह रुपये माहवार कर रक्खे थे। इस तनख़्वाह की इन से नौकरी सिर्फ़ इतनी ही ली जानी थी, कि तालीम देना और मैं कहीं मुजरे में जाऊं तो साथ चल कर सरंगी बजाना, बस। आप जानते ही हैं कि रंडियों के उस्तादों की रंडियें कितनी इज़्ज़त करती हैं। सो मैं भी इन उस्ताजी की इतनी ही इज़्ज़त करती थी। मगर पोशीदा ऐसा नहीं था। पोशीदा तौर पर इन से वक़्त पर और और भी काम लिये जाते थे। मसलन, किसी मेरे आशिक़ की चिट्ठी लाना, मेरी उस तक, इन के हाथ पहुँचाना, वगैरह वगैरह.

मैं जब तालीम ले चुकी, तो उस्ताजी ने चौतरफ़ देख कर मेरे हाथ में एक ख़त रख दिया और कहा कि—"बाई! रोवनलालजी ने यह ख़त भेजा है और जवाब मांगा है।" मैंने जवाब दिया—ठीक है! मैं इस का जवाब कल दूंगी।" इतना सुनकर उस्ताजी तो चलते हुए और मैं ताज्जुब में आकर सोचने लगी कि रोवनलाल ने मेरे पास ख़त क्यों भेजा है।

---

* उस्तादजी।

मेरे उसके तो आपस में तकरार हो चुका था, फिर खत भेजने से क्या हासिल। चलो जी देखा जायगा, अव्वल इसे खोल कर तो देखना चाहिये। मैंने उस लिफ़ाफ़े को खोला तो यह नीचे लिखा हुआ मज़मून उसमें मिला—

सूरज !

"मैं कौन हूँ, यह तुझे बतलाने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि तू मिस्टर रोवनलाल, मेम्बर आफ़ दी शैतान-पार्टी, को अच्छी तरह जानती है। जो दो महीने और कई दिन—तुझे अपनी ख़िदमते शरीफ़ में रख चुका है। मगर एक तेरी हर्कते-बेजा पर गुस्सा हो कर इस मेम्बर ने—याने मैंने—अपनी ख़िदमत से हमेशा के लिये तुझे अलग कर दिया। अब उसी हरकत का बदला लेने के लिये मैं बेताब हो रहा हूँ। यह तुझे माळूम ही है कि शैतान-पार्टी का एक अदना से अदना मेम्बर भी इस काम को कितनी सफ़ाई और आसानी से कर सकता है, जिस में मैं तो एक चीफ़ और अव्वल दर्जे का मेम्बर हूँ, मेरे वास्ते यह काम बांयें हाथ का खेल है। इसलिए तुझे इत्तला दी जाती है कि अगर तुझे मेरे बदले की दहकती हुई आग से बचना हो तो, एक मरतबा तमाम मेम्बरों के सामने आकर, मुझ से अपने कुसूर की मुआफ़ी मांग। वरना ऐसा कड़ा बदला लिया जायगा कि छटी का दूध याद करेगी। उम्मीद क़वी है कि तू लिखने के बमूजिब कार्रवाई करके अपने को इस आती हुई आफ़त से बचा लेगी। यह खत मैं नहीं लिखता, लेकिन क्या करूं तेरी भोली सूरत और मुहब्बत से लाचार हूँ। फ़क़त"।

मैं हूँ—

एक शै० पा० का मेम्बर और बदले का भूखा, रोवनलाल।

इस खत के पढ़ने से, मुझे यह तो मालूम हो गया कि रोवनलाल ने मुझे डराने के लिये यह तदबीर की है। अगर मैं उसके लिखे मुताबिक़ काम करूं तो वही चित्रकला वाला हाल मेरा होगा, इसलिये वहां चल कर मुआफ़ी मांगना तो ठीक नहीं और फिर वह मेरा कर ही क्या सकता है। इसलिए मैंने इस चिट्ठी का जवाब सिर्फ इतना ही सा लिख कर उस की तरफ़ रवाना किया कि "तुझ से जितना कुछ हो सके कर ले। मैं तुझ से और तेरी शै० पा० से डरने वाली नहीं।" और अम्मां से भी इस का ज़िक्र फ़ुज़ूल समझ कर न किया।

क़रीब बारह बजे के, अम्मां के पास एक आदमी आया जो उसी सेठ का नौकर था। जिस को हम दूसरे लफ्ज़ों में रंडियों का दल्लाल या उस शै० पा० का प्रेसीडेन्ट कह सकते हैं।

वह अम्मां के पास क्यों आया था, सो भी सुनिये। बात यह है कि जिस सेठ से मैंने रात को नाटक में बातचीत की थी, उस ने इस सेठ के पास मुझे नौकर रखने की बाबत कहलाया। बस फिर क्या था, सेठ जी फूल कर कुप्पा हो गये और फ़ौरन अपने आदमी को अम्मां के पास भेज दिया और कहला दिया कि "फ़लां सेठ तुम्हारी बड़ी बेटी को नौकर रखना चाहता है सो अगर उसके यहां से आदमी आवे तो ठीक ठीक तनख़्वाह कह कर सूरज को उसके यहां नौकर रख देना। यह सेठ मेरा व्यवहारी है इसे अपना ही आदमी समझना।" बस यही बात कहने के लिये यह आदमी आया था। अम्मां ने उससे हाँ करके रुख़सत किया।

तीन बजे दिन के अम्मां के पास कालेराम का आदमी आया। तसलीम वग़ैरह होने के बाद अम्मां के और उसके यों बातचीत होने लगी।

अम्मां,—"कहिये जनाब, आप का नाम क्या है ?"

आदमी,—"जी, मुझे क़यामत अली कहते हैं।"

अम्मां,—"अच्छा तो आप मुसल्मान हैं। उनके यहां क्या काम करते हैं ?"

क़यामत,—"जी, मैं गाड़ी हांकता हूं, कोचवान हूं।"

अम्मां,—"सेठ साहिब ने आप को यहां किस ग़र्ज़ से भेजा है ?"

क़यामत,—"जी, कंवर साहिब ने आज रात को आप की लड़की को बुलाया है।"

अम्मां,—"मेरी लड़की को बुलाया है ! मुजरे के लिये ?"

क़यामत,—"नहीं साहिब मुजरे के लिये नहीं, बल्के किसी दूसरे मतलब के लिये।"

अम्मां,—"दूसरे मतलब के लिये ! याने रखने के लिये। सो इस का जवाब यह है कि हम यों ख़रची नहीं कमातीं। हम कोई टिखयाई नहीं हैं, कि यों जाती फिरें। अगर उनको नौकर रखना है तो मैं भेज सकती हूँ। वरना यों एक रात के लिये नहीं भेज सकती।"

क़यामत,—"ठीक है, यह बात उनको भी माऌम थी, इसलिए यह भी पुछवाया है कि, अगर यों न आसके तो महीना बतलावे, कितने रुपये माहवार में नौकर रह सकती है, इसलिए आप फ़रमावें कि कितनी तनख़्वाह आप मांगता हैं ? मैं सच कहता हूँ आप की तक़दीर अच्छी है कि हमारे कँवर साहिब का दिल आपकी लड़की पर आया है। वल्लाह ! कँवर साहिब का दिल है कि दरिया, सैकड़ों की इनाम योंहीं अपने नौकरों को दे देते हैं। इसलिए मेरा कहना तो आप से यही है कि इस मौक़े को अपने हाथ से न जाने दें, नहीं तो फिर पछताना होगा।"

अम्मां,—" ठीक है साहिब, उनकी फ़ैयाज़ी की तारीफ़ मैं सुन चुकी हूं। अब आप यह फ़रमावें कि कितने रुपयें महीना वह दे सकते हैं ?"

कयामत,—" जी, यह नहीं होगा, पहिले आप ही बतलावें।"

अम्मा, —" तो, पहिले मैं ही कहूँ। सुनिये ! चार सौ रुपये महीना, फ़रमाइश, तेवारी और नाच मुजरा अलग"।

क़या०,—" साहिब ! यह तो बहुत हुए। इतनी मनशा कँवर साहिब की देने की नहीं है, कुछ और कम कीजिये।"

अम्मां,—" वाह हज़रत ! अच्छी कही आपने भी !! अभी लड़की को सर्फ़राज़ हुये तो महीना भी नहीं हुआ। कहीं चार सौ रुपये महीने में इतना अच्छा और नया माशूक़ नौकर भी रह सकता है ? यह तो उलटे मैंने कम कहे हैं। अगर आप को यह ज़्याद: मालूम हुए हों, तो अपने कँवर साहिब की मनशा फ़रमा दीजिये, ताकि मालूम हो जाय कि वह यहां तक दे सकते हैं।"

क़या०,—मैं उनकी असली मनशा भी कहने के लिये तय्यार हूँ, मगर पहिले मुझे यह मालूम होना चाहिये कि मेरी दस्तूरी मुझे मिलेगी या नहीं ?"

अम्मां,—" हां, हां, वह तो सब मैं दूंगी, लेकिन मालूम भी हो कि उनकी मनशा क्या है।"

कया०,—" बात यह है कि वह तीन सौ रुपये माहवार से ज़्याद: देना नहीं चाहते।"

अम्मां,—नहीं जनाब ! इसमें तो मुझे मंज़ूर नहीं।"

क़या०,—"इसमें भी मंज़ूर नहीं ! देखिये, आप कहना मानिए; ऐसा रईस फिर नहीं मिलने का। तीन सौ रुपये ही

क्या, एक शब में ही ऐसा कुछ दे देंगे कि जिसका नाम। आप तीन सौ रुपये महीना ही क्या देखती हैं!"

अम्मां,—ठीक, सो तो सब कुछ है। मैं जब तो इतने में राजी हो सकती हूँ कि बेटी का नाच-मुजरा न बंद होना चाहिये और मेरी तेवारी अलग होनी चाहिये।"

क़या०,—"ठीक है, यह कँवर साहिब ने फ़रमा दिया है, क्योंकि उन्हें नाच मुजरा बंद करने से फ़ायदा ही क्या है। लेकिन यह फ़रमावें कि आप आठ तेवारों का क्या लेंगी?"

अम्मां,—"यह तो एक बंधी हुई बात है। पच्चीस रुपये फ़ी तेवार के लिये जाते हैं। जिसके दो सौ रुपये साल हुए।"

कया०,—"पच्चीस रुपये! मगर खैर, यह भी कँवर साहिब को मंजूर है। लीजिये, यह एक महीने की तनख़्वाह के तीन सौ रुपये।"

इतना कहकर क़यामत अली ने तीन सौ रुपये के तीन क़िता नोट निकाल कर अम्मां के सामने रख दिये। मुझे ताज्जुब हुआ कि ओ हो! यह फ़य्याज़ी, क्यों न हो पूरा मालदार, पक्का शौक़ीन है।

अम्मां ने वह नोट उठा लिये और कहने लगी।

अम्मां,—"और मेरी तेवारी।"

क़या०,—"वह भी आजायगी। क्या आप को इतना भी इतमीनान नहीं है? लाइये, मेरी दस्तूरी तो दिलवाइये।"

अम्मां,—लीजिये"!

इतना कह, अम्मां ने पांच रुपये अपनी जेब से निकालकर

उसके हाथ में धर दिये । उसने रुपयों को लेकर कहा—"यह हैं तो कम, मगर खैर, पीछे बहुत लिया करूंगा । हां ! अब यह ठीक नौ बजे रात को तय्यार मिलें । मैं बहली लेकर आऊंगा।"

अम्मां,—"क्या आज ही ?"

कया,—"और नहीं तो कब, बस यह आज से हमारे कंवर साहिब के नौकर हुये ।"

अम्मां,—"ठीक है । कुछ मुज़ायक़ा नहीं । आप ठीक नौ बजे आवें, यह तय्यार मिलेगी।" इतना सुन कर उसने झुक कर एक फ़र्शी सलाम किया और मकान के बाहिर हुआ । उसके चले जाने के बाद अम्मां के और मेरे यों गुफ्तगू होने लगी।

अम्मां,—"लो बेटा ! अब है तुम्हारी बात । ऐसा उल्लू बनाओ कि बस, एकदम से घर मालामाल हो जाय । मेरी सिखाई हुई वह चालाकियें, बनावटी मुहब्बतें, वह चलते हुए फ़िक्रे, अब काम में लाओ जिससे वह अच्छी तरह काबू में आजाय।"

मैं,—"देखो तो अम्मां ! मैं क्या करती हूं । मालूम होता है कि यह दौलतवाला खूब है, तब ही तो इतनी जल्दी की।"

अम्मां—"अजी दौलतवाला क्या—एकदम सोने की चिड़िया है । दिल का फ़ैयाज़ भी सुनते हैं । बस, अब तुम्हारी बन आई है । खूब माल मारो । हां यह तो बतला कि आज कैसे कपड़े पहन कर जायगी ?"

मैं—"मैं पाजामा और कुरता पहन कर जाऊंगी । क्यों ठीक है ना"?

अम्मां—"और क्या यही पहनकर जाना।"

इतना कहकर अम्मां उठ खड़ी हुई क्योंकि उसको कहीं बाहिर जाना था।

....

दिन योंहीं निकल गया। जब शाम हुई तो मैंने खाना खाया और बड़े आइने के सामने जाकर बाल बनाने लगी। बहुत कोशिश करने पर भी मैं आज बाल न बना सकी, इसलिये मैंने बिचली बहन को पुकारा। उसने आकर अपनी तमाम कारीगरी बाल बनाने में ही खर्च कर दी। इतने नफ़ीस और उम्दा बाल बनाये कि देखने से तबिअत फड़क उठी। मैंने बिचली से कहा—"बहन वाह, भई क्या उम्दा बाल बनाये हैं कि इनाम देने को जी चाहता है।" उसने कहा—"लाओ न तो फिर क्या इनाम देती हो? दो।" मैंने जवाब दिया"—हमारे पास तो इस वक़्त कुछ भी नहीं जो दें।" इसपर उसने मुसकुराते हुए कहा—"तो फिर योंहीं कहती थी? आपा! मैं तुमसे एक बात कहूं। अब तुम उसके नौकर तो होही गई, बेचारे को ज़रा उर्दू भी पढ़ा देना।" यह सुन मैं खिल-खिला कर हंस दी। ख़ैर, मुख़्तसर यह है कि हम दोनों बहिनें योंहीं थोड़ी देर मज़ाक़ दिल्लगी करती रहीं। इतने ही में आठ बज गये। मैंने एक उम्दा पाजामा, कुरता और डुपट्टा पहिना, सुरमा लगाया, टीकी लगाई—ग़रज़ कि सब तरह से तय्यार होकर पान लगाने बैठी। इतने ही में कालेराम का कोचवान आ पहुंचा। मुझे पान लगाती हुई देखकर मेरे पास ही बैठ गया और कहने लगा—"ओ हो, अभी तक आप पान ही लगा रहे हैं?"

मैं,—"क्यों, तुम किसी क़दर जल्दी भी तो आये हो?"

क़या०,—"जी, क्या करूं कँवर साहब के हुक्म से जल्दी आया हूं।"

मैं,—"हैं, क्या इनके वालिद जिन्दा हैं ?"

कया०,—"जी हां, बरक़रार हैं।"

मैं,—"ओहो! तब तो मुझसे बड़ी गलती हुई। मैंने इनको सेठ साहिब ही समझा था।"

क़या०,—"इस में गलती की क्या बात है। एक न एक दिन तो सेठ हो होंगे। हां, अब आप जल्दी कीजिये।"

मैं,—"इतनी जल्दी, अभी तो नौ भी नहीं बजे होंगे।"

कया०,—"जी न बजो, लेकिन आपको तो जल्दी ही बुलाया है।"

मैं,—"बहुत खूब, यह लीजिये, मैं लगा चुकी।"

इतना कहकर मैंने पान डिब्बी में रक्खे और चलने के लिये तैयार हो गई। हम दोनों नीचे आकर बहली में बैठे और कालेराम के मकान की तरफ़ रवाना हुए। नाजरीन को मालूम रहे कि अम्मां से मैंने पहिले ही से जाने के लिये पूछ लिया था और इस वक़्त तक वह मकान में नहीं थी नहीं तो दुबारा भी पूछती। हमारी बहली ठीक पौने नौ बजे मकान से रवाना हुई।

छठा बयान।

(उल्लू का पट्ठा)

" रंडी फ़क़ीर करदे दम् में शहे ज़मन को।
बद फ़न् करे पलक में इन्साने नेक फ़न को॥

(वाक्यविनोद)

करीब आधे घन्टे के, मैं उसके मकान पर पहुंची। मकान के पिछवाड़े होकर मुझे अन्दर जाना पड़ा। कोई दो मंज़िल ते करने पर क़यामत अली ने मुझे एक कमरे में ला खड़ा किया। यह कमरा अच्छा था। रोशनी से ख़ूब जगमगा रहा था। बीच में एक साफ़ सुथरा पलंग बिछा हुआ था। पलंग के एक तरफ़ दो कुरसियां रक्खी हुईं थीं। जिनमेंसे एक पर इस वक़्त हमारे नौजवान आशिक़ मिस्टर कालेराम बैठे हुए थे। सर नंगा था, बदन में एक सफ़ेद कुरता और धोती के अ।र कुछ न था। मगर जेवर अब भी लादे हुये थे।

उसने ज्योंहीं मुझे कमरे में आते देखा, आप कुरसी से उठ खड़ा हुआ और कहने लगा। अहः हः हः ? आवो, साब सूरज जी आवो। मैं कितनी देर सू आपी ने उडीकै छो*।

यह सुनकर मैं जल्दी से आगे बढ़ी और कहने लगी—"मैं हाज़िर हुई। भला, मैं तो, जब से आपको देखा है, तब ही से दिल खो चुकी, इसलिये आप से जुदा कैसे रह सकती थी।"

---

* "अहः हः हः ! आइये, सूरज जी साहिब, आइये ! मैं कितनी देर से आपका इन्तज़ार कर रहा था।"

इस बात के कहते ही मुझे खूबरू याद आया। एक बिजली की तरप ख़्याल मेरे दिमाग़ में दौड़ गया और खूबरू का वह गोल गोठ चेहरा आंखों के सामने आ गया। मैं कुरसी पर बैठ गई। न मालूम मेरा माथा क्यों घूमने लगा, इसलिये मैंने आंखें बन्द कर लीं। आंखें बन्द करते ही खूबरू की मोहनी सूरत सामने आ गई। उसके गुलाबी रुख़सार, कटीली आंखें मेरे सामने फिरने लगीं। लेकिन अफ़सोस! ज्योंहीं मैंने आंख खोली तो बजाय उस खूबरू के, इन्दर सभा के काले देव को कुरसी पर बैठा हुआ पाया। हाय! क्या करूं? एक आह भर कर रह गई।"

नाज़रीन! इस जगह पर मैं कालेराम की गुफ़्तगू लिख-कर काग़ज़ रंगना नहीं चाहती। क्योंकि इस उल्लू के पट्ठे की ज़बान ही ऐसी थी जो मुझे इस वक़्त लिखते हुए बड़ी दिक़्क़त मालूम होती है, इसलिये इसका तो न लिखा जाना ही अच्छा है।

इस जगह अगर मैं तमाम रात भर के हालात लिखने बैठूं तो बहुत तूल हो जायगा। मुख़्तसर यह है कि कालेराम मुझ पर लट्टू हो गये जो कुछ मैं फ़रमाइश करती वह फ़ौरन देता था। इस तरह से मैंने डेढ़ महीना गुज़ार दिया। इस लंबे अर्से में कोई ऐसे हालात न गुज़रे जिन्हें मैं इस जगह लिखती, हां, अलबत्ता इतना तो ज़रूर हुआ कि मेरी सोहबत से उसको उर्दू बोलना आ गया।

मैं उसके यहां रोज़ नौ बजे रात को पहुंच जाती थी और सुबह के चार बजे अपने मकान वापिस आ जाती थी। अब मुझे उसका कोचवान लेने के लिये न आता था बल्कि सिर्फ़ बहली ही आ जाया करती थी, जिसमें बैठकर मैं रोज़ चली

जाया करती थी। इस लंबे अर्से को पीछे छोड़कर मैं एक रात का हाल यहां पर देती हूं, जिसका लिखना बहुत ही जरूरी है।

ठीक नौ बजे जब मैं उसके पास पहुंची तो उसको उसी कमरे में—जिसमें कि वह रोज रहा करता था—एक कुरसी पर बैठे पाया। आज उसका चेहरा उदास था, इसलिये मैंने सबब जानने के लिये एक बराबर ही कुरसी पर बैठकर पूछा कि "प्यारे! आज मैं तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ क्यों देखती हूं?" उसने एक आह भर कर जवाब दिया—"प्यारी! क्या कहूं आज मेरे घर से एक *कागद आया है उसी के फ़िक्र में बैठा हूं।"

मैं,—क्यों "खैर तो है? तुम्हारे घर तो सब अच्छे हैं?"

काले०,—" अजी घर तो सब अच्छे ही हैं, लेकिन न मालूम उनको तुम्हारे और मेरे †तालुक का हाल कैसे मालूम हो गया।"

मैं,—"तो हो जाने दो, इसमें फ़िक्र की बात कौन सी है?"

काले,—"सो तो ठीक, लेकिन मेरी बीबी और मां जो यहां आती हैं, इनका क्या किया जाय?"

मैं,—"इसकी मैं क्या तरकीब बतलाऊं, मगर उनके आने में हर्ज ही कौनसा है जिससे तुमने फ़िक्र कर रक्खा है?"

काले,—"वाह! यह भी एक ही कही। अगर वे यहां आ जांय तो फिर तुमारा और मेरा मिलाप क्योंकर हो?"

---

* कागज़। † ताल्लुक़।

मैं,—"सो मैं नहीं जानती, अगर तुम मुझे चाहते होगे तो उस वक़्त भी बराबर मिलोगे।"

कालेराम—(ज़ोर के साथ) "देखा जायगा। भलेंही चाहे जो कुछ ही क्यों न हो, मैं तो तुम से उस वक़्त भी मिलूंहींगा।"

इस पर मैंने उसके गले में हाथ डाल दिये और बड़े प्यार के साथ उसके इश्क़ की तारीफ़ की।

खैर, बाक़ी रात हमने हँसी खुशी में गुज़ारी। जब चार बजे तो मैं मकान आ पहुँची। यहां पर मैं यह लिख देना अच्छा समझती हूं कि इस दो महीने में, मैंने अलावा दो माह की तनख़्वाह के तीन सौ रुपये का माल इससे और वसूल किया। बेशक यह सेठ का लड़का ख़ूब ही मालदार था और यही सबब था कि मैंने इससे ऐसी ऐसी चीजें लीं जो फिर मैं ताउम्र किसी से न ले सकी।

———

सातवाँ बयान।

(चालाकी इसे कहते हैं)

" यह वो बला है कि कितने ही घर, उजाड़ डाले बसे बसाये ।

(रज़िया बेगम)

आपा कहो, आज कल मिस्टर कालेराम का क्या हाल है? उसको उर्दू बोलना भी आया कि नहीं?" यह बात मेरी बिचली बहिन ने पूछी, जब कि मैं खाना खाकर कमरे में बैठी पान लगा रही थी। उसके इस पूछने पर मुझे कुछ हंसी आई। मैंने इसका इस तरह जवाब दिया—"बहिन ! आओ बैठो, बेशक तुम्हारा कहना ठीक हुआ। उसको मेरी सोहबत से उर्दू बोलना आगया।"

बिचली,—(बैठकर) " सुना कि वह बिलकुल ही बेवक़ूफ़ है ?"

मैं,—"हां जी, " बेवक़ूफ़ क्या? जरूरत से भी ज़्यादा बेवक़ूफ़ है।"

बिचली,—" मगर देने लेने में तो अच्छा है। हमें तो उसकी बेवक़ूफ़ी से फ़ायदा ही है।"

मैं,—"इसमें क्या शक है, ऐसेही शख़्सों से अपना फ़ायदा है।'

बिचली,—"हां जी आपा, एक बात मैं तुम से पूछना भूल ही गई, कि तुम्हारा हमल कितने दिनों का हुआ ?"

मैं,—" क़रीब चार महीने का। "

त्रिचली,—"कल रात को—जब तुम चली गई थीं—अम्मां ने इस बात का ज़िक्र किया था।"

मैं,—"क्या कहा था?"

त्रिचली,—"बस उस वक़्त तो सिर्फ़ इतना ही कहा था कि कल सूरज को एक बात समझानी है।"

मैं—"मगर अभी तक उसने कुछ भी नहीं कहा।"

त्रिचली,—"अब कह देगी।"

इतना कह कर त्रिचली मेरे कमरे से चली गई। मैं उठ कर सोने के लिये पलंग पर जा लेटी।

....

चार बजे दिन के, जब मैं कमरे में बैठी बैठी "* शाही दराना" पढ़ रही थी, अम्माँ मेरे कमरे में आई और मुझे किताब पढ़ती हुई देख कर कहने लगी—"बेटा तू तो रात दिन सिवाय किताब देखने के और कुछ करती ही नहीं। मुझे डर है कि कहीं तेरी आँखें न जाती रहें।"

मैं,—"अम्माँ! कहीं पढ़ने लिखने से आँखें गई हैं?"

अम्माँ,—"तू तो हर बात में बहस करने लग जाती है। अच्छा बाबा, जो तुझे अच्छी लगे सो कर। मगर मैं एक मुफ़ीद और ज़रूरी बात कहने आई हूँ सो ज़रा सुनले।"

मैं,—"कहो क्या कहती हो?"

अम्माँ,—"यही कि, जो तुम्हारे हमल है सो उसका है। बस, यही आज रात को उस से ज़ाहिर कर दो"।

* इस नाम का नाविल उर्दू में मौजूद है।

मैं,—"अयँ ! अम्माँ !! यह तुम क्या कहती हो !! मैं झूठ मूठ यह कैसे कह दूं कि हमल उसका है, और अगर कह भी दूं तो वह मानने वाला कब है । क्योंकि हमल तो उसके नौकर रहने के दो महीने पहिले से है ।"

यह सुन कर तो अम्मां लाल हो गई और कहने लगी—"गधी कहीं की । इतनी बड़ी हो गई और रंडीपना न आया । फिर किस रोज़ चालाकी आएगी ! अबे नादान ! क्या इतना भी नहीं समझती कि सात महीने में भी बच्चा जन दिया जाता है !"

ओफ़ ! यह जवाब सुन कर तो मैं दंग हो गई । दिल ही दिल कहने लगी । अरी वाह री अम्मां ! क्यों न हो, इसी फ़न् में बाल पकाये हैं । चालाकी इसे कहते हैं, रंडीपना यह है । जब कि सरिहन हमल दूसरे का है और उसको ख़ामख़्वाह किसी दूसरे का बतला देना—यह कुछ कम चालाकी की बात नहीं है ।"

अम्मां का यह जवाब सुन कर मैं तमाम तरकीब समझ गई और कहने लगी—"अम्मां ! यह चालाकी तो मुझे नहीं सूझी थी माफ़ करना । अब तुम किसी तरह का फ़िक्र मत करो, मैं आज ऐसा ही करूंगी ।"

अम्मां यह सुन कर खुश हो गई और कमरे में से उठ कर कहीं बाहिर चली गई । वेशक ऐसा करने से हमें आगे को बहुत फ़ायदा हुआ सो पढ़ने से माळूम होगा ।

———

आठवाँ बयान ।

(वाह ! क्या ही उल्लू बनाया है !)

"क़द्र उल्लू की उल्लू जानता है। हुमा को कब चुग़द पहचानता है॥"

(वाक्यविनोद)

दिल लगा बुरा होता है—बेशक, जब दिल किसी की मुहब्बत में गिरफ़्तार हो जाता है तो बड़ी मुशकिल होती है। मैं जिस शख़्स को एक मर्तब: थियेटर में देखने से आशिक़ हो गई थी, वह कौन था—सो मुझे मालूम नहीं। मगर जब कभी उस का वह ख़ूबसूरत चेहरा याद आ जाता है, तो दिल की अजीब कैफ़ियत हो जाती है। क्या इसे ही इश्क़ कहते हैं? क्या इसी का नाम मुहब्बत है? तब तो ऐसा समझना चाहिये कि इश्क़ अंधा है। क्योंकि जिससे मैं बिलकुल नावाक़िफ़ हूं और फिर जिसकी सूरत याद आने से दिल बेचैन हो जाय तो इश्क़ को अंधा ही समझना चाहिये।

अम्मा की कही हुई तरकीब आज मुझे उसके सामने कहना है। लेकिन कहीं इस बात को वह पा गया तो बना बनाया काम चौपट हो जायगा। ऊँह! वह इस बात को बेचारा क्या पा सकता है। हम बड़े बड़े चालाकों की आंख में धूल डालने वाली हैं, फिर वह तो बेचारा किस खेत की मूली है।

नाज़रीन! ठीक नौ बजे मैं उसके मकान पहुंची। बनिस्बत और दिनों के मैंने आज उससे ज़्याद: मुहब्बत की। जब वह अच्छी तरह अंधा हो गया और मैंने भी देख लिया कि

अगर इस वक़्त वह बात कही जाय तो कोई हर्ज न होगा, तो यों कहने लगी।

"मेरे प्यारे! आज मैं तुझे एक ख़ुश-ख़बरी सुनाती हूं।" और इसके साथ ही मैंने उसके गले में हाथ डाल दिये। उसने कहा,—"क्या प्यारी क्या?"

मैं,—"यही कि मैं हमल से हूं"।

काले०,—"हयं! तुम हमल से हो। वाह! वाह! क्या कहना है!!! बड़ी ख़ुशी की बात है, कितने दिन का हुआ?"

मैं—"दो महीने का।"

काले०,—"हयं! जब तो बन्दे ही का समझना चाहिये!"

यह सुनकर मैं दिल ही दिल कहने लगी, "वाह! क्या उल्लू बनाया है, क्यों न हो, अम्मां की चालाकी और तरकीब कुछ ऐसी वैसी थोड़ी ही है" और फिर उससे कहने लगी, "वाह, यह क्या कहा? तुम्हारा नहीं है तो और किस का है? मैं सच कहती हूं कि जब से तुम्हारे और मेरे ताल्लुक़ हुआ है, मैंने दूसरे का मुंह ही नहीं देखा। हम कोई बाज़ारू ख़ानगी थोड़ी ही हैं कि नौकरी भी करें और ख़रची भी कमावें।"

यह जवाब सुनकर तो वह इस तरह अकड़ गया, जैसे कोई बड़ी बहादुरी का काम करके अकड़ता हो। बस इसी तरह वह रात हमने हंसी ख़ुशी में बिता दी।

देखा आपने, चालाकी इसे कहते हैं, "काम किसी और का और नाम किसी और का।" यह बातें हम ही लोगों में हैं, और किसी में नहीं हो सकतीं। एक तो अव्वल ही मिस्टर कालेराम बेवकूफ़ थे, दूसरे मेरी इन चिकनी चुपड़ी बातों और

चुचुआते हुए मुहब्बत के फ़िक्रों में पड़ कर रही सही भी अक़्ल खो बैठे। जो कुछ मैंने कहा, उसे ही सच मानकर इतने ख़ुश हुये कि उसी ख़ुशी के अन्दर मुझे एक सोने की माला अता की और कहने लगे "भगवान करे और तुम्हारे लड़का पैदा हो तो तुम देखना मैं कितनी ख़ुशी मनाता हूं!"

मैंने इसका यों जवाब दिया—"प्यारे, मैं भी यहा चाहती हूं कि तुम्हारी सूरत का मेरे लड़का पैदा हो, क्योंकि ख़ुदानख़्वास्ता तुम कहीं मुझे छोड़ भी दो तो तुम्हारी वह निशानी देख देख कर जिया तो करूंगी।"

काले०,—"मैं, और तुम्हें छोड़ दूं! ऐसा कभी नहीं हो सकता। अब तो मैं तुम्हारा हो चुका। मेरी प्यारी! अब तो यह दिल तुम्हारे हाथ बिक चुका, इसलिये तुम्हें छोड़ना कहां है?"

मैं,—"बेशक प्यारे, मुझे भी यही उम्मीद है। देखें, आवो! जरा आईने में चलकर अपना जोड़ा तो देखें, कितना अच्छा मालूम होता है।"

इतना कह कर मैं उसका हाथ पकड़े हुए, एक क़दे आदम आइने के सामने जा खड़ी हुई। जब मैंने आइने में देखा तो, मालूम हुआ कि कालेराम मेरे सामने ऐसा मालूम होता है जैसे इन्द्रसभा के तमाशे में सब्ज परी के सामने काला देव खड़ा हो! इतने ही में कालेराम ने मेरी गर्दन में हाथ डाल दिया और कहने लगा—"प्यारी! ओ प्यारी!! अब देखो आइने में अपना जोड़ा कितना ख़ूबसूरत मालूम होता है?"

इस पर मुझ से न रहा गया और तड़ाक से यह कह ही बैठी, "बेशक प्यारे! मुझे तो अपना जोड़ा आइने में ऐसा मालूम होता है, जैसे कि चांद में ग्रहण लग गया हो।"

यह सुनकर तो कालेराम तीन हाथ परे कूद गया और कहने लगा, "वाह! अच्छा मज़ाक़ किया। क्या हुआ अगर मेरा रंग काला है तो काला ही सही, लेकिन फिर भी ख़ूबसूरती और क़िता में किसी से कम नहीं हूं।"

मैं—"सो तो है ही। मैंने तो सिर्फ़ अपने जोड़े को तशबीह दी थी। क्योंकि मेरा मिज़ाज ज़रा शायराना भी है, इसलिये और तो कोई तशबीह मुझे मिली नहीं इसे ही मौज़ूं समझ कर मैंने कह दिया। लेकिन तुम को रंग की बाबत फ़िक्र न करना चाहिये क्योंकि काला रंग बुरा नहीं होता, यह तो आज कल गोरे चमड़े की क़द्र होने लग गई है, वरना रंग काला, काला ही है। देखो श्रीकृष्ण भी तो काले ही थे जिन पर औरतें किस तरह मरा करती थीं। चुनांचे तुम भी काले ही हो इसलिये अपना जोड़ा अइने में ऐसा लगता है जैसे कान्ह और गोपी खड़े हों।"

यह सुन कर तो कालेराम ख़ुश हो गया और मेरे गले में हाथ डाल कर कहने लगा, "तुम तो बड़े बड़े शायरों के भी कान कतरती हो।"

इतने में घड़ी ने सुबह के चार बजाए। मैं रुख़सत होकर मकान चली आई। मैंने फिर अम्मां से यह तमाम हाल कहा। जिसे सुनकर वह बहुत ही ख़ुश हुई और बहुत देर तक मेरी तारीफ़ करती रही।

नवाँ बयान।

(मरदाना लिबास)

"नई चालबाज़ी, शरारत नई है। तमाशा नया है क़यामत नई है"।

(सफदर)

आज का दिन बहुत अच्छा दिन था। एक तो अव्वल ही मौसिम जाड़े का था, दूसरे आज कुछ बूंदा बाँदी हो जाने से सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। ठंढी ठंढी हवा की सनसनाहट बदन में पार हुई जाती थी। ऐसे वक़्त में एक बन्द कमरे में तनहा बैठी बैठी आग ताप रही थी। मेरी अम्मां घर में नहीं थी। न मालूम ऐसे वक़्त भी घर से निकल कर कहाँ गई थी सो मैं नहीं कह सकती। इस वक़्त एक लड़का जो हमारे यहां अभी हाल ही में नौकर हुआ था, एक मेरे नाम का ख़त लेकर आया। लिफ़ाफ़े पर "बि सूरज-जान के पास पहुंचे" इतना सा लिखा हुआ था। मैंने चिट्ठी को उलट पुलट के लड़के से पूछा कि उसको चिट्ठी कौन दे गया था। जवाब मिला कि एक लड़का दे गया था और ताकीद कर दी थी कि सिवाय मेरे और किसी को न दे। मैंने ताज्जुब के साथ लिफ़ाफ़ा खोला, तो उसमें यह नीचे लिखा हुआ मज़मून पाया।

" सूरज !

मेरा एक ख़त तो तेरे पास पहुंचा ही होगा, अब यह दूसरा ख़त लिखकर फिर तेरे पास भेजता हूं और उम्मीद करता हूं कि इस को शुरू से आख़िर तक पढ़ेगी और जानेगी कि मैं अपनी बात पर कितना तुला हुआ हूं।

अफ़सोस ! बदक़िस्मत ! अगर तू मेरा कहना मान लेती और शैतान-पार्टी के मेम्बरों के सामने आकर मुआफ़ी चाह लेती, तो आज तेरे वास्ते क्यों ऐसा ख़राब फ़ैसला दिया जाता। कभी नहीं, मगर तू तो एक पर्ले सिरे की बदक़िस्मत औरत है; तबही तो हाय !. तेरे वास्ते ऐसा फ़ैसला दिया गया कि जो आज तक किसी रंडी के वास्ते न दिया गया !

अब वह फ़ैसला कौनसा है, सो सुनने के लिये, दिल को ज़रा मज़बूत करले। क्योंकि, यह मुझे अच्छी तरह मालूम है कि वह फ़ैसला सुनकर तू डर जायगी। तेरा नाज़ुक दिल वह ख़ौफ़-नाक बात सुनकर दहल जायगा। और फिर होना भी ऐसा ही चाहिए—क्योंकि कोई ख़ूबसूरत औरत अपनी नाक कटाने की बात सुनकर ख़ुश नहीं हुआ करती; फिर जिसमें तुम लोगों का कहना ही क्या है कि जिनकी कमाई ही हुस्न पर मौकूफ़ है।

"मैं तेरी नाक काटूं" यह फ़ैसला आज हमारे प्रेसीडेन्ट, श्री श्री १०८ श्री सेठ साहिब ने दिया। अगर्चे तीन चार शख़्सों ने तेरी मदद की, लेकिन-कसरते-राय कारगर होती है। इससे यह फ़ैसला उम्दः और मौज़ूं समझा गया और पार्टी से मुझे हिदायत की गई कि बमूजिब हुक्म के फ़ौरन तामील करूं, इसलिये तुझे इत्तला दी जाती है कि एक दो रोज़ ही में तू अपने इस ख़ूबसूरत चेहरे को बग़ैर नाक के देखेगी।

अहा हा हा—अब मैं निहायत ही ख़ुश हूं। कमबख़्त—तूने मेरे साथ वह हरकत की थी जिस से मेरा दिल हर वक़्त भट्टी की तरह सुलगा करता था, लेकिन आज तो मैं ख़ुश हूं और दो एक रोज़ में यह ख़ुशी अज़हद्द दर्जे को पहुंच जायगी।

मुझे यह भी मालूम है कि तू आज कल किसके यहां नौकर है, मगर मुझे इससे कुछ ग़र्ज़ नहीं, ग़र्ज़ है तो सिर्फ़

उसी बात से, सो मैंने ऊपर लिख ही दी । इस खत के भेजने से मेरा यही मतलब है कि अगर तुझसे हो सके तो अपने बचाव का इन्तज़ाम कर ले ।”

राक़िम—कोई नहीं ।

इस ख़त ने तो मुझे डरा दिया । ऐसा क्यों हुआ सो मालूम नहीं । अगर्चे इस ख़त के लिखनेवाले ने अपना नाम न दिया हो, मगर इसकी इबारत साफ़ कह रही थी कि यह ख़त रोवनलाल का लिखवाया हुआ है । ‘लिखवाया हुआ है’ ऐसा मैंने क्यों कहा—इसलिये कि यह हरूफ़ रोवनलाल के न थे । मालूम होता है कि किसी दूसरे से लिखवाकर मेरे धमकाने के लिये भेजा है ।

वह मेरी नाक काटेगा सो कभी नहीं हो सकता और न शैतान-पार्टी ही ऐसा फ़ैसला दे सकती है । क्योंकि वह बनिया जो इस पार्टी का मुखिया है अव्वल दर्जे का डरपोक और बोदा है, वह यह बात कभी नहीं कह सकता कि मेरी नाक काटी जाय । दूसरे इस पार्टी में ऐसे ऐसे शख्स शरीक हैं जिनका ताल्लुक़ कचहरियों से ज़्यादः है और वे क़ानून की गिरफ्त से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं । तीसरे वे किसी क़दर मालदार और इज़्ज़तदार भी समझे जाते हैं । इस रोवनलाल ही को लीजिए कि जो एक गहरा और ख़ास ताल्लुक़—बल्के यों कहना चाहिये कि एक हाकिमाना ताल्लुक़—कचहरी से रखता है । फिर भला उसी के हाथ से—उसी की ज़ात से—ऐसा काम हो, यह ग़ैर मुमकिन बात है ।

यह ख़त महज़ डराने और धमकाने के लिये समझना चाहिये, न कि—जो कुछ इस में लिखा है—उसके लिए ।

यह दिल ही दिल सोचकर मैंने उस खत को जलती अँगीठी में डाल दिया और उठकर खाना खाने के लिए चली गई।

दिन योंहीं निकल गया। जब शाम हुई और रात के नौ बजने को आए तो मैं कपड़े-वपड़े पहिन कर तैयार हो गई। क्योंकि मेरा रोज कालेराम के यहां के जाने का वक़्त आ पहुंचा था। नौ से दस बजे, मगर अभी तक न तो आदमी ही आया और न बहली ही आई। मुझे फ़िक्र होने लगा कि आज यह क्या बात है, जब कि और दिनों आदमी ठीक नौ बजे आ जाया करता है, तो आज दस बजने पर भी क्यों नहीं आया !!! मैं उठकर, यह बात कहने के लिये अम्मां के कमरे में चली गई। वह इस वक़्त गहरी नींद में सो रही थी इसलिये मैंने जोर से आवाज दी—"अम्मां ! अम्मां !" आवाज सुनते ही वह चौंक कर उठ बैठी और मुझे अभी तक यहां ही देखकर कहने लगी,—बेटा! क्या तुम अभी तक नहीं गई ?"

मैं—'नहीं अम्मां ! बहली तो आई ही नहीं, मैं क्यों कर जा सकती थी।"

अम्मां—"क्या अभी तक क़यामत अली नहीं आया ?"

मैं—"नहीं, अभी तक नहीं आया। मालूम होता है कि क़यामत अली पर आज क़यामत टूट पड़ी।"

" नहीं, नहीं, क़यामत अली पर क़यामत नहीं टूट सकती," यकायक यह आवाज कमरे में गूंज गई। मैंने जो मुँह फेरकर देखा तो क़यामत अली को खड़े पाया। मैं उसको यों यकायक देख कर खुश हो गई और कमरे से बाहिर आकर कहने लगी। अजी वाह हजरत ! खूब आए। भला मैं कितनी देर से तुम्हारा इन्तजार कर रही हूँ।"

क़या०,—"सो तो मैं पहिले ही जानता हूं, मगर क्या करूं आज तो वहां एक अजब मुआमला दरपेश है?"

मैं,—"सो कैसे, ज़रा हमें भी तो सुनाओ।"

क़या०,—"अजी साहिब क्या सुनाऊं। आज दिन भर बड़ी मुसीबत में कटा है। हमारे कंवर साहिब की जान आज अजब मुसीबत में गिरफ्तार है।"

मैं,—"क्यों, ऐसा क्यों है?"

क़या०,—"आज सुबह की गाड़ी से कंवर साहिब की मां और बीबी वतन से आगईं। न मालूम उनको तुम्हारा हाल कैसे मालूम हो गया कि दिन भर कंवर साहिब को लानत मलामत की है।"

मैं,—"ओ हो! तबही कल रात को मुझसे वह यह बात कहते थे। तो आज मेरा जाना मौकूफ़ रहा?"

क़या०,—"मौकूफ़ क्यों रहा? चलिये। भला कंवर साहिब को आप बग़ैर चैन कहां। मगर आज मरदाना लिबास पहिन कर चलना होगा।"

मैं,—"मरदाना लिबास पहिन कर चलना होगा? ख़ैर, मैं ऐसा ही करूंगी, लेकिन कहीं कुछ गोल माल न हो जाय।"

क़या०,—"नहीं जी, कुछ नहीं होगा। हमने पहिले ही पुख़्ता इन्तज़ाम कर दिया है।"

यह सुनकर मैं मरदाना लिबास पहिनने को कमरे में चली गई। पहिले तमाम ज़ेवर उतारा। कोट पहिना और सर पर अपने दुपट्टे का साफा बांधकर एक ख़ासा सोलह सतरह बरस का

नमकीन और ख़ूबसूरत लड़का बनकर खड़ी होगई। इन सब पर मैंने एक दुलाई और ओढ़ली क्योंकि कोट से सीना अच्छी तरह नहीं छुपा था। जब मैं इस मरदाने भेष से आइने के सामने गई तो दिल ही दिल कहने लगी कि अगर भगवान मुझे मर्द करता तो बड़े बड़े ख़ूबसूरत जवानों को—सिवाय मेरे दिलबर ख़ूबरू के—मिर्गी आजाती।

मैं अब इस लिबास से अम्मां के पास रुख़सत लेने को गई। उसने मेरा यह भेष देखकर ताज्जुब से कहा—"बेटा! यह कैसा भेष?"

मैं—"अम्मां! उनकी मां वां आ गई बतलाई इसलिये इसी भेष से बुलाया है।"

इस वक़्त अम्मां ने क़यामत अली से—जो मेरे पीछे ही खड़ा हुआ था, पूछा—"क्योंजी गाड़ी लाये हो कि नहीं?"

क़या०—"जी नहीं लाया। क्योंकि ऐसा करने से इनका वहां जाना ज़ाहिर होजाता। इसलिये हम दो आदमी आये हैं, इनको पैदल ही ले जायंगे।"

अम्मां—"अच्छा साहिब! मगर देखो होशियारी रखना और हां कंवर साहिब से यह भी अर्ज़ कर देना कि तनख़्वाह जल्द भिजवावें। बेटा! तुम भी याद रखना। तनख़्वाह बहुत चढ़ गई है।"

मैं—"बहुत ठीक, कहदूंगी।"

इतना कहकर मैं मर्दाने लिबास से—दो आदमियों के साथ—कालेराम के मकान की तरफ़ रवाना हुई।

दसवां बयान।

(आफ़त)

"नतीजा कारे-बद का कारे-बद बद है।"

आज रात बड़ी अंधेरी थी। इस वक़्त आसमान में बादल इतने गहरे हो रहे थे कि रास्ता चलना मुश्किल हो रहा था। एक हाथ के फ़ासिले की चीज भी नहीं दिखलाई देती थी। ख़ैर, मैं ज्यों त्यों करके, क़रीब ग्यारह बजे, कालेराम के मकान पर पहुंची। आज मुझको मकान में, एक और रास्ते होकर जाना पड़ा। बड़ी होशियारी से एक छोटीसी खिड़की में होकर मैं सड़क के ऊपर वाले कमरे में पहुंची। यह कमरा नीचे की मंज़िल में बना हुआ था और इतना गंदा और बदबूदार था कि एक मर्तबा घुसते ही मेरा तो माथा भिन्ना गया। ज्योंहीं मैं पहुंची, कालेराम उठ खड़े हुए और कहने लगे,—"प्यारी! क्या कहूं आज बड़ी मुश्किल से तुम से मिलना हुआ है।" मैंने इसके जवाब में कहा, "हां, मुझे पहिले ही मालूम हो गया था कि तुम्हारी मां और बीबी आ गईं" इतना कह कर मैं वहां ही के एक बिछे हुए पलंग पर, जो बहुत ही गन्दा था, बैठ गई। इस वक़्त मरदाने भेष को अलग फेंका और डुपट्टा जो, मैंने सर पर बांध रक्खा था, खोल कर ओढ़ लिया। कालेराम भी मेरी बराबर ही बैठ गये और कहने लगे—"अरे! तुमने यह क्या किया, मरदाने भेष को क्यों उतार दिया?"

मैं,—"क्यों, अब तो इसका रखना फ़ुज़ूल था।"

काले०,—"सो ठीक, लेकिन तुम मुझे उस लिबास में इतनी अच्छी मालूम होती थीं जितनी कि अब इस में नहीं होती हो।"

मैं,—"लेकिन वह लिबास मुझे तो नापसन्द था, इससे उतार दिया। सुना है कि तुम्हारी मां को मेरा हाल मालूम होगया!"

काले०,—"हां, मालूम हो गया। पूछो मत, आज दिन भर यही ज़िक्र रहा है।"

मैं,—"और जिस पर भी आज तुम मुझको बुला कर ही माने। बोलो कहीं उन लोगों को मेरे आने का हाल इस वक़्त मालूम हो जाय, तब?"

काले०,—"ऊंहुं! उनको मालूम नहीं हो सकता। वह इस वक़्त सब सोती पड़ी हैं!"

मैं,—"तुम्हारी बीबी भी तो आई है, फिर आज मुझ को क्यों बुलाया? आज तो उसी बेचारी के पास रहे होते?"

काले०,—"नहीं, मैं अब उसके पास नहीं रह सकता।"

मैं,—"तो, फिर आज उसको टाला कैसे?"

काले०,—"कह दिया कि मेरी तबीअत ठीक नहीं।"

मैं,—"वाह! ख़ूब तरकीब की। कहो, मेरी सोहबत से तुम्हें कितना फ़ायदा हुआ।"

काले०,—"सो कैसे?"

मैं,—"ऐसे कि, तुम्हें चालाकी भी आगई और साथ ही साथ उर्दू बोलना भी आ गया।"

काले०—"हां, बेशक मुझे इन तुम्हारी तीन चार महीनों की सोहबत से उर्दू बोलना आ गया। यों तो मैं पहिले भी बोला करता था, लेकिन इतनी अच्छी नहीं।"

मैं,—"बस, मुआफ़ कीजिए; पहिले तो आप जो कुछ बोलते थे, सो मैं जानती हूँ। क्यों, भूल गये क्या नाटक वाली बात, "आज तो खूननाथ को तमाशो है।"

काले०—"बस, मुआफ़ करो, ज़्याद: शर्मिंदा न करो। बेशक़ पहिले मैं रुपये में बारह आना भी उर्दू नहीं बोल सकता था। (इतना कह कर उसने मेरे गले में हाथ डाल दिए और फिर कहने लगा) मगर प्यारी! क्या तुम मुझे चाहती हो?"

मैं,—"वाह! प्यारे वाह!! अच्छा सवाल किया। लाहौल-वलाकूवत! तुम्हें अब भी यक़ीन नहीं, कि मैं तुम्हें कितना चाहती हूँ? हाय! मेरा दिल ही जानता है कि, जितनी देर मैं तुम से जुदा रहती हूँ, मेरा क्या हाल रहता है।"

इतना कह कर मैंने अपने दोनों हाथ उसके गले में डाल दिए और कहने लगी, "मगर बेवफ़ा! मुझे छोड़ मत देना, नहीं तो याद रहे, यह सूरज जहर खाकर मर जायगी।"

ठीक इसी वक़्त—जबकि मैंने बड़ी मुहब्बत से उसके गले में हाथ डाले थे—कमरे के किवाड़ किसी ने जोर से खट खटाए और इसके साथ ही बाहिर से आवाज आई * "भाया! ओ भाया!! किवाड़ खोल!!!"

यह आवाज़ सुन कर तो हमारे होश पैतरा हो गये। मैं—जो इतनी देर स "लाहौल" पढ़ रही थी—इस आवाज़ के सुनते ही

* बेटा, ओ बेटा, किवाड़ खोल!

सब छू मन्तर हो गया और मारे डर के थर थर कांपने लगी। इस वक़्त कालेराम ने बहुत ही धीरे से कहा—"अरे! यह तो माँ की आवाज़ है, अब क्या कर! अफ़सोस! गज़ब हो गया!!" मैंने इसका कुछ भी जवाब नहीं दिया और मारे दहशत के उठ कर छिपने की जगह देखने लगी। इतने ही में फिर एक ज़ोर का धक्का किवाड़ों, पर पड़ा और किसी ने कहा—* "अरे! न खोल के किवाड़, रांडने माएं बाड़ राखी है!!!" कालेराम चुप, कुछ जवाब नहीं, और आख़िर इस बात का जवाब भी तो क्या हो सक्ता था। बेचारा खड़ा खड़ा बेंत की तरह कांप रहा था।

इस वक़्त में कमरे का सदर दरवाज़ा तो बाहिर से कोई खट-खटा ही रहा था, इतने में एक और बला आ टूटी। याने कमरे के मग़रिब वाला दरवाज़ा बड़े ज़ोर से खुल गया और एक औरत यह कहती हुई मेरी तरफ़ झपटी कि—†"क्यों री रांड़? आज कठे जायली?" मैं एक तो अव्वल ही डरी हुई थी, दूसरे इस अचान-चक की बलाए-नागहानी ने तो मेरे पैर ही छुड़ा दिये और मैं भाग कर एक पर्दे के पीछे हो गई। मेरा इतना डर कर भागना फ़ज़ूल था; क्योंकि उस औरत को तो कालेराम ने बीच ही में पकड़ लिया और ज़ोर से ज़मीन पर पटक कर मारना शुरू कर दिया। वह बिचारी मारे मार के चिल्लाने लगी और ज़ोर ज़ोर से पुकारने लगी—‡"अरे बारे भाभी सा! मने मारै है। अर कोई बेगा सा आर छुड़ाओ रे!" मगर कालेराम ने एक भी न सुनी और अब बड़ा बेदर्दी के साथ उसको मारने लगा। देखा आपने, पाठकगण!

---

* अबे, नहीं खोलता है क्या किवाड़, रंडी को अन्दर घुसा रक्खी है!!!

† क्यों बे रंडी, आज कहां जायगी?

‡ अरे, तोबा तोबा, सास जी! मुझ को मारता है। कोई जल्दी से आवो और मुझे छुड़ा दो?

मैं भागकर एक पर्दे के पीछे होगई।
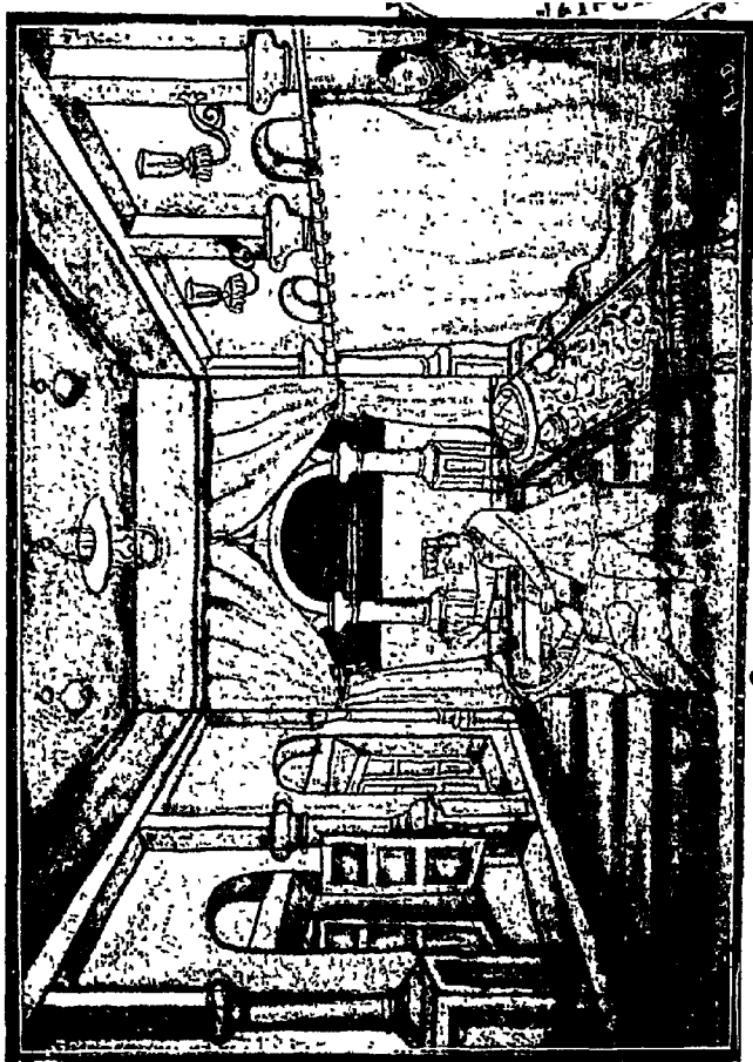
हमारे जाल में पड़कर इन्सान कितना बेवकूफ़ और अंधा हो जाता है। गौर करने की बात है कि, भला मैं इसकी कौन होती हूं कि जिसके लिये यह अपनी खास बीबी को यों बे रहमी के साथ मार रहा है। सच है हमारा जाल ऐसा ही होता है, इसमें पड़ कर इन्सान क्या क्या नहीं कर सकता!!!

इतने ही में कमरे के बाहिर बहुतसे आदमियों का शोरो-गुल सुनाई दिया और किवाड़ तोड़े जाने लगे।

कालेराम अब उसको ठोक-चुका था। वह बेचारी मारे मार के बेदम होकर ज़मीन पर गिर गई थी। इसलिये उसे योंहीं छोड़ कर वह झपटता हुआ मेरे पास आया और जल्दी जल्दी कहने लगा—"सूरज, अब इसके सिवा—कि मैं तुमको इस खिड़की में होकर बाजार की तरफ़ जो झरोकी है उसमें न उतार दूं—और कुछ उपाय नहीं है।" इतना कहकर वह खिड़की की तरफ़ झपटा और फुर्ती के साथ उसे खोल कर, मुझे उसमें उतर जाने को कहा। मैंने इसे ही ग़नीमत समझा और जल्दी से उसमें होकर झरोकी में कूद गई। पीछे से उसने ज़ोर से खिड़की बन्द करली।

ग्यारहवां बयान।

(जान बची)

" रंजो ग़मो फ़िराक़ो अलम कर्बो दरदो सोज़।
इतनों को एक दिल का ख़रीदार कर चले " ॥

(सफदर)

मैं ने उस खिड़की से झरोकी में उतरकर देखा कि अंधेरा खूब हो रहा है। अगर्चे वहां से—जहां मैं खड़ी थी—बाजार ज़्याद: नीचा नहीं था, लेकिन फिर भी मैं बगैर दूसरे की मदद के नीचे नहीं कूद सकती थी। हवा इतने ज़ोर से बह रही थी कि मुझे ठंढ मालूम होने लगी। मैं दिलही दिल कहने लगी कि अब क्या करूं; यहां से कैसे बाजार में उतरूं। अफ़सोस! कुए से निकल कर खड्डे में आगिरी। इतने में मैंने थोड़ी दूर पर चौकीदार को मय लालटेन के देखा। वह उसी तरफ़—जिधर मैं झरोकी पर खड़ी हुई थी—आ रहा था। मैने अपने लिए यह मौक़ा अच्छा समझा, ज्योंहीं वह चौकीदार झरोकी के नीचे आया मैंने बड़ी नरमी से कहा-अरे भाई! मुझे नीचे उतार दे। वह मेरी आवाज़ सुनकर एक मरतबा तो डरा और पीछे अपनी लालटेन की रोशनी मेरे ऊपर डालता हुआ कहने लगा। कौन हैय् रे तू! चोर या डाकू? मैंने इसका यों जवाब दिया—भाई, इनमें से कोई भी नहीं, बल्के एक आफ़त-रसीदा औरत हूं।

वह,—औरत? औरत इस वक्त यहां कैसे?

मैं,—एक दफ़े मुझे नीचे उतार दो फिर मैं अपना सब हाल तुम से कह दूंगी।

वह,—"यह नहीं हो सकता, पहिले मुझे यह जांच कर लेने दे कि तू वाक़ई औरत ही है।" यह कहकर उसने अपने हाथ वाली लालटेन की बत्ती तेज़ की और मुझे उसकी रोशनी में खूब ही घूरा। जब वह तीन चार दफ़े ऐसा कर चुका तो कहने लगा—"बेशक तू है तो औरत ही लेकिन मैं तुझे क्यों नीचे उतारूं?"

मैं,—"भाई मै पैरों पड़ती हूँ, मुझे नीचे उतार दो। उतर कर मैं अपना तमाम हाल तुमसे कह दूगी। यहां तो मारे जाड़े के गठरी हुई जाती हूँ।"

मेरे इस कहने पर चौकीदार के दिल में कुछ रहम आया और उसने अपने दोनों हाथ ऊंचे उठाकर मुझे बड़ी आसानी के साथ नीचे उतार दिया।

इस अरसे में एक दूसरा चौकीदार वहां और आ पहुँचा, वह मुझे अपने जोड़ीदार के साथ देखकर कहने लगा—"भाई गोर्धन! यह क्या मुआमला है? यह औरत कौन है?"

पहिला चौकीदार—"भाई, मुझे मालूम नहीं यह कौन है। जब मैं इधर होकर जाने लगा तो इसने मुझे पुकारा और नीचे उतारने के लिए कहा। मैंने यह देखकर कि, यह औरत ही है और कोई नहीं, नीचे उतार दिया। अब तुम भी देखो यह कौन है, मालूम तो औरत ही होती है कोई चोर और तो नहीं।"

इतना कहकर उन दोनों ने मुझे लालटेन की रोशनी में खूब गौर के साथ देखा। मैं इस वक़्त मारे डर के कांप रही थी कि अब यह मेरा क्या करेंगे। इतने ही में एक चौकीदार खुशी के मारे चीख उठा और कहने लगा—"अरे भाई, मैंने

पहिचाना, यह तो *छुट्टन रंडी की वड़ी छोरा है। क्योंरी, तेरा नाम सूरज ही है ना ?"

मैं,—(डरती हुई) हां, भाई मेरा यही नाम है। मैं इस सेठ के नौकर हूँ। आज उसकी घरवाली ने हमें देख लिया। इसलिए उस सेठ ने खिड़की की राह मुझे इधर उतार दिया।

दू० चौ०,—"ठीक है, ठीक है, हम सब जानता है, अब तू क्या चाहती है ?"

मैं,—"मैं कुछ भी नहीं, घर जाना चाहती हूँ।"

दू० चौ०,—"घर जाना चाहती है ? बगैर पुलिस में चले ही ? क्यों भाई गोर्धन, तुमारी क्या राय है !"

प० चौ०,—"यार मेरी राय तो यह है कि, अपनी मुट्ठी गरम करके इसे छोड़ देना चाहिए क्योंकि पुलिस में ले चलने से अपना कुछ फ़ायदा नहीं होगा।"

दू० चौ०,—"अरे वाह यार ! अच्छी कही। लाना ज़रा चूरमे वाला हाथ।"

इतना कहकर उन दोनों ने हाथ मिलाए और उनमें से एक मेरी तरफ़ देखकर कहने लगा—"सुनो बि सूरज ! मुट्ठी गरमाओ और घर जाओ।"

मैं,—"भई इस वक़्त क्या है मेरे पास जो तुम्हें दूँ। अगर कल मकान आओ तो खुश कर दूँगी।"

दू० चौ०,—"कल सही, हम आकर ले लेंगे, मगर देखो इस में फ़र्क़ न होने पावे।"

---

* यह ना मेरी अम्मां का था।

प० चौ०,—"और देखो मुझे मत भूलना, मैंने तो तुम्हें नीचे हीं उतारा है।"

मैं,—"अच्छा कल देंगे। हमारे घर बारह बजे दिन के आना।"

इतना कहकर घर की तरफ़ मैं तनहा रवाना हुई। मेरी तक़दीर अच्छी थी कि दोनों चौकीदार ही भलेमानस थे और एक उन में से मुझे पहिचानता था वरना अगर कोई बदमाश होता तो न माळूम मेरी क्या हालत करता।

इसी तरह सोचती हुई मैं घर की तरफ़ रवाना हुई। तनहा होने से मुझे डर तो माळूम होता था, लेकिन फिर भी मैं हिम्मत बांधे आगे बढ़ती ही गई।

जैसे तैसे करके बाज़ार में होकर तो मैं चली आई, लेकिन जब गली में घुसी तो डर माळूम होने लगा। गली में इतना अँधेरा था कि हाथ को हाथ भी नहीं सूझता था। मैं दिल कड़ा-कर गली में चलने लगी।

अभी मैं बीस क़दम भी गली में न चली हूँगी कि पीछे से किसी ने मेरे कन्धे परे ज़ोर से हाथ रख दिया। मैंने जो घूमकर देखा तो एक काली शक्ल को खड़े पाया। मारे डर के मेरा खून सूख गया। "अरे बाप रे! यह कौन, भूत है कि जिन्न!!!"

मेरी यह हालत देखकर उस काली शक्ल ने कहा—"सूरज अब कहां जाती है? बहुत दिनों में बदला लेने का मौक़ा हाथ आया है।"

"ओफ़ ! रोवनलाल" इतना सा सिर्फ़—इतना ही सा—मैं कहने पाई थी कि फिर उसने कड़क के कहा—"रोवनलाल-हां हां—हरामज़ादी, रोवनलाल—तेरी जान का प्यासा रोवनलाल।"

इतना कहकर उसने एक छुरी अपने कपड़ों में से निकाली जो अँधेरे में बिजली की तरह चमक गई और फिर मेरा कलाई मज़बूती से पकड़ कर यों कहने लगा—"ले अब मरने के लिये तय्यार हो जा। नालायक़, क्या तूने मुझे ऐसा वैसा ही समझ लिया है ?" उसके इस कहने से मुझे यह तो अच्छी तरह मालूम हो गया कि इसने शराब पी रक्खी है क्योंकि उसके मुंह से इतनी कड़ी बदबू आ रही थी कि मेरा मग़ज़ भिन्ना गया, ख़ैर उसकी इस हर्कत से मैंने ख़याल किया कि नशे के झोंक में शायद यह मुझे मार बैठे, इसलिए मैं नरमी से कहने लगी—"क्या तू मुझे जान से मारेगा ?"

वह—"हां जान से मारूंगा।"

मैं—"क्यों, मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ?"

वह—"अरे हरामज़ादी ! क्या अब भी यही कहती है कि क्या बिगाड़ा है। क्या महफ़िल वाली बात भूल गई ?"

मैं—"नहीं, नहीं भूली। लेकिन क्या इतनी सी बात पर ही मुझे जान से मारेगा ?"

वह—"नहीं, मैं भूलता हूं—तुझे जान से मारने का हुक्म नहीं, बल्के तेरी नाक काटूंगा, नालायक़ नाक। उतार, अपना तमाम ज़ेवर, तुझे जान से मारकर गुनहगार बनना नहीं चाहता।"

मैं—"नहीं रोवनलाल, तू मेरी नाक नहीं काट सकता। अरे ! बेहरेम !! इस बात से तुझे क्या हासिल होगा !!! ले, यह मेरा तमाम ज़ेवर लेजा, लेकिन नाक मत काटे।"

वह—"मैं जेवर का भूखा नहीं। जेवर तो सिर्फ इसलिये उतरवाता हूं कि यह काम किसी चोरही का समझा जाय ले हरामजादी! अब तू होशियार हो जा।"

मैं—"नहीं रोवनलाल, ऐसा मत कर? देख! मैं तेरे पैरों पड़ती हूं—रहम कर—रोवनलाल, रहम कर—क्या मेरे वास्ते तेरे पास मुतलक़ रहम नहीं?"

"चुप, हरामजादी कहीं की!" इतना कहकर उसने जोर से मेरी कलाई को झटका दिया जिसके सबब से मैं घुटनों के बल ज़मीन पर आरही। अब इस वक़्त मेरी मदद करनेवाला कौन था। यह शैतान मेरी नाक काटने पर आमादा था। यह देख कर मुझसे न रहा गया और मैं मदद के लिये चिल्ला उठी। मगर अफ़सोस! मुझे पूरा चिल्लाने भी नहीं दिया और अपने मज़बूत हाथ से मेरा मुंह बंद कर लिया। अब मैं सब तरह से लाचार कर दी गई। उस शैतान ने मेरे दोनों हाथ अपने घुटनों के नीचे दबाये, एक हाथ से मुँह बंद किया और छाती पर चढ़ कर नाक काटने के लिये तैयार हुआ।

ठीक इसीवक़्त—जिस वक़्त कि उस शैतान की छुरी मेरी नाक के पास पहुँच चुकी थी—एक ज़ोर की आवाज़ सुनाई दी—"दूर हो नालायक़ कहीं के? क्यों इस बेचारी औरत को तक्लीफ़ दे रहा है?" और साथ ही किसी ने एक लात इस ज़ोर की रोवनलाल की छाती पर लगाई कि वह ज़मीन पर चित होगया। मैं इस वक़्त फुर्ती से उठ खड़ी हुई और दिलही दिल अपने बचानेवाले का शुक्रिया अदा करने लगी। रोवनलाल जो इस वक़्त उठ खड़ा हुआ था, मारे गुस्से के मेरे बचानेवाले से कहने लगा—"कौन है

बे तू! जो इस तरह हमारे बीच में दखल दे रहा है—जानता नहीं कि मैं पीस कर रख दूंगा।"

बचानेवाला—"अबे चुप रह बे बहादुर की दुम! क्या एक बेकस औरत को सतानेवाला ही पीस कर रखदेगा? जा जा! कहीं हिजड़ों में मिलकर नाच!!!"

रोवनलाल,—"मालूम होता है कि तेरी शामत तुझे यहां घेर लाई। बस अगर अपना फ़ायदा समझता है तो चुपके चुपके चला जा, नहीं सीधा करके रख दूंगा।"

बचा०,—"अबे मुझे तो पीछे सीधा करना, पहिले अपने को तो बचाले।" इतना कहकर मेरे बचानेवाले ने एक ज़ोर का घूंसा ताक कर रोवनलाल की कनपटी पर मार दिया जिसके लगते ही वह चक्कर खाकर ज़मीन पर आरहा और बेहोश होगया। अब मेरे बचानेवाले ने मेरी तरफ़ देखा और कहा—"ए औरत, तू कौन है?"

मैं—"मैं एक बेकस औरत हूँ। इधर से जारही थी कि यह मेरा ज़ेवर उतारने को आमादा हो गया। भगवान आप का भला करे कि आपने पहुंचकर इस डाकू से मुझे बचाया।"

वह—"नहीं, नहीं, न तो तू बेकस औरत ही है और न यह कोई चोर ही है, बल्के तेरी आवाज़ सुनते ही मैंने पहिचान लिया कि तू तो मशहूर तवायफ़ सूरज जान है और यह तेरा पुराना आशिक़ रोवनलाल है।"

मैं—"बेशक, यह ठीक है। लेकिन क्या आप—आप भी—मुझे अपना नाम व पता बतलायेंगे ताकि मैं शुक्रिया अदा तो करलूं?"